सब आप ही पानी हो गया है। कविता के क्षेत्र में दर्शन भी झमक पड़ा है और सभी गुह्य अथवा अध्यात्म के झाँसे में आ गये हैं और अतीत की आड़ में वर्तमान की खेती करना चाहते हैं। जहाँ तहाँ कुछ इसमें भी झलक दिखा दी गई है 'कामायनी का कवि' इसी लिए सामने लाया गया है कि उससे कुछ इधर का भी पता हो जाय। सारांश यह कि सभी ओर देखने का प्रयास किया गया है और साहित्य के सभी कोनों में प्रकाश फैलाने की चेष्टा की गई है। कथा साहित्य की कुछ उपेक्षा अवश्य हो गई है पर 'कामायनी' में जिस त्रुटि का बोध कराया गया है वह इस दिशा का उपलक्षणमात्र है। आज की प्रबन्ध रचनाओं में यह दोष प्रायः पाया जाता है। साथ ही इसमें वाद-विवाद का भी विधान है। वाद के रूप में तो थोड़ा पर विवाद के रूप में बहुत कुछ है। कुछ लोग शब्दों के आधार पर खड़े होकर शास्त्र की ओट में साहित्य का मैदान मारना चाहते और संस्कृत के बल पर भाषा को रसातल भेजना चाहते हैं। निदान उनकी भी पोल खोली गई है और उनको साधारण का बोध कराया गया है। भक्ति और राजनीति भी साहित्य के भीतर अपना काम करती रही हैं। उनका प्रदर्शन भी इसमें हो गया है। संक्षेप में इसे सभी प्रकार से पूर्ण बनाने का प्रयत्न किया गया है और भरसक इस बात का उद्योग किया गया है कि इसके पाठकों के पल्ले कुछ पड़े और जीवन के सभी क्षेत्रों में पदार्पण करने में कुछ सम्बल हाथ लगे। विवाद तो बहुत हुये पर जो आनन्द श्री वेंकटेशनारायण तिवारी जी से भिड़ने में आया वह अन्य किसी से नहीं। इसी बहाने राधा के विषय में कुछ तत्त्वचिन्ता भी हो गयी। अतः उसे भी यहाँ दे दिया गया। इसी प्रकार श्री कृष्णबिहारी जी के खंडन में भी कुछ विशेष चेतना का अनुभव हुआ और कविता के द्वारा कवि को परखने का अवसर हाथ लगा। निदान वह भी इसी में आ गया। सब कुछ तो हुआ पर सच पूछिये तो अभी वही न हो सका जिसके होने से साहित्य का मर्म खुलता। किन्तु तो भी इतना तो खुलकर कहा ही जा सकता है कि किसी औंखवाले के लिए यह 'सदीरिनी' अवश्य है। इससे अधिक कुछ और कहने का इस जन को अधिकार नहीं। प्रसंगवश चलते-चलते इतना और निवेदन कर

दिया जाता है कि इन संगृहीत लेखों में सब से प्राचीन है 'देव और बिहारी का आचरण' और सबसे अर्वाचीन है 'भूषण की राष्ट्रभावना' जो सन ३० और सन ४७ में बने हैं। शेष इन्हीं के बीच के हैं। आशा है यह संग्रह हिन्दी साहित्य के प्रेमियों के लिए लाभप्रद होगा और इसकी त्रुटियाँ अगले संस्करण में दूर होंगी। परिस्थिति की प्रतिकूलता में जो हो गया बहुत हुआ और जो नहीं हुआ उसके होने की आशा तो है! फिर निराशा क्यों?

शारदीय पूर्णिमा
सं० २००४ वि०

चंद्रबली पांडे

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ संख्या

साहित्य-संदीपिनी

१—भक्ति-भाव

भक्ति साहित्य के शास्त्रीय समीक्षण में भक्ति-विशेष के भक्ति भाव का निर्दिष्ट करना समीचीन समझा जाता है. अतएव प्रत्येक समीक्षक किसी भक्ति-काव्य की समीक्षा में दास्य, सख्य, वात्सल्य, माधुर्य और शात आदि भक्ति-भावों में से किसी एक भाव को उस काव्य का मुख्य भाव बताता है और अन्य भावों को उसका सहायक अथवा अग समझता है। विचार करने की बात है कि भक्ति-भावों का इस प्रकार का निर्देश कहाँ तक ठीक है। हमारी समझ में भक्ति भावों का इस प्रकार का वर्गीकरण ठीक नहीं। शात भाव किसी प्रकार भी अन्य भावों के साथ मेल नहीं खाता। यदि रस की दृष्टि से विचार करें तो स्पष्ट अवगत होगा कि शातरस का स्थायी भाव निर्वेद अथवा शम है, जो किसी प्रकार रतिनामक स्थायी भाव का अग नहीं कहा जा सकता। यदि ईश्वर की अनुरक्ति अथवा देवपरक परम रति को ही भक्ति कहते हैं तो निश्चय ही शात भाव वस्तुत. भक्ति-भाव का कोई भाग नहीं है। उसमें परमात्मा के अनुध्यान की भी उतनी प्रतिष्ठा नहीं है, जितनी ससार से उदासीन होने का आग्रह। अतएव हमारा कहना है कि शात भाव को दास्य आदि भक्ति-भावों से अलग कर देना चाहिए और उसपर एक दूसरी स्वतत्र दृष्टि से विचार करना चाहिए। माधुर्य-भाव के सबध में भी हमें कुछ निवेदन करना है। हमारी धारणा है कि सख्य वात्सल्य आदि भक्ति भावों के साथ माधुर्य-भाव का उल्लेख करना भूल या प्रमाद है, कुछ किसी चिन्तन का फल नहीं। वास्तव में शास्त्रीय विवेचन में सख्य और वात्सल्य भाव भी उसी प्रकार माधुर्य भाव के भीतर गिने गए हैं, जिस प्रकार कांत भाव। यह बात दूसरी है कि जन-साधारण में माधुर्य भाव कांत भाव का पर्याय हो गया है और लोग उसे कांत

भाव का स्थानापन्न समझने लग गये हैं, नहीं तो वास्तव में हमारे यहाँ के आचार्यों ने ऐश्वर्य और शान्त भाव के साथ माधुर्य भाव की गणना की है, कुछ सख्य और वात्सल्य भाव के साथ नहीं। इस प्रकार हम देखते हैं कि ईश्वर की अनुरक्ति अथवा हमारी परम रति यदि ईश्वर के ऐश्वर्य पर अवलंबित होती है तो हमारी भक्ति भावना ऐश्वर्य भाव की हो जाती है, और यदि भगवान् के मधुर रूप अथवा सौन्दर्य पर अवलंबित होती है तो वह माधुर्य भाव की हो जाती है। अनुरति के अतिरिक्त जब हम परमात्मा के अनुध्यान में मग्न होने के लिए *शेष सृष्टि से उदासीन हो कुछ-कुछ आत्मग्लानि में पड़ जाते हैं और* हममें निर्वेद छा जाता है, तब हम शान्त भाव के उपासक हो जाते हैं और परमात्मा का साक्षात्कार किसी निर्विकल्प रूप में करना चाहते हैं, किसी लीला विस्तारी रूप में नहीं। *लीला*-विस्तारी रूप पर जितना टिकाव माधुर्य भाव का होता है उतना ऐश्वर्य भाव का भी नहीं। ऐश्वर्य भाव के लिये परमात्मा का सगुण होना पर्याप्त है पर माधुर्य भाव के लिए भगवान का अवतार लेकर अपनी लीला का विस्तार करना पड़ता है और भक्तों के बीच नाना प्रकार के अभिनय करने पड़ते हैं। यही कारण है कि *माधुर्य भाव का जैसा सुन्दर प्रचार* किसी अवतार के तत्कालिक भक्तों में पाया जाता है, वैसा परवर्त्ती भक्तों में नहीं। कदाचित् इसी प्रेरणा से साम्प्रदायिकों ने माधुर्य भाव की पूरी प्रतिष्ठा के *लिए कितने ही भक्तों का कृष्ण के सखाओं अथवा सखियों का अवतार मान* लिया है, और उनकी उपासना को माधुर्य भाव के भीतर गिन लिया है। नहीं तो भला यह किस प्रकार संभव था कि सूरदास माधुर्य भाव के उपासक माने जाते, ऐश्वर्य भाव के नहीं।

माधुर्यभाव का ऐश्वर्यभाव से भिन्न समझने के लिए कुछ आचार्यों ने माधुर्य भाव का रागानुग एवं ऐश्वर्य भाव का वैधी भाव कहा है। इसमें संदेह नहीं कि उनका यह वर्गीकरण बहुत कुछ उक्त भावों के विभेद को स्पष्ट कर देता है, और हमारे सामने एक ऐसी कसौटी रख देता है, जिससे हम किसी भी भक्त की भक्ति भावना को सहज में समझ सकते हैं। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि ऐश्वर्यभाव के उपासक कट्टर विधानवादी होते हैं और परमात्मा के 'प्रसाद' पर विश्वास ही नहीं करते। नहीं, कदापि नहीं। इसका सारांश मात्र इतना

हां है कि ऐश्वर्यवादी मर्यादा का पालन करते हैं, और माधुर्यवादी उसे उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं। माधुर्यभाव के उपासक के लिए यह आवश्यक नहीं होता कि उसका उपास्य मर्यादा पुरुषोत्तम हो। उसके लिए तो इतना पर्याप्त है कि उसका उपास्य इतना मनोरम और मधुर हो कि उसकी मनोवृत्तियाँ उसमें परित. रम सकें, और कभी किसी मर्यादा के कारण उससे विचलित न हों, प्रत्युत सदैव उसी में लिपटी रहें। निदान हम देखते हैं कि ऐश्वर्यभाव की उपासना सदैव मर्यादा को साथ लिए चलती है और माधुर्यभाव की उपासना *केवल रागात्मक संबंध पर ध्यान रखती है। माधुर्यवादी की दृष्टि में मर्यादा का* यदि कोई महत्त्व है तो वह उसकी साम्प्रदायिक मर्यादा के भीतर ही, लोक-मर्यादा की सामान्य भाव-भूमि के व्यापक क्षेत्र में नहीं।

माधुर्यवादी कहने को चाहे कुछ भी कहे, पर इतना तो निर्विवाद है कि सेवक सेव्य भाव के बिना भक्ति हो नहीं सकती। माधुर्य भाव के भीतर सख्य, वात्सल्य और कांतभाव की गणना की जाती है। सख्य भाव के उपासकों में अर्जुन प्रधान है। अर्जुन को जब भगवान् के सच्चे स्वरूप का बोध हो जाता है, तब वह अपने को सर्वथा समर्पित कर देता है, और भगवान् से प्रार्थना करता है कि सखा मान कर जो कुछ उनसे कहा सुना गया है, उसको क्षमा कर दें, और उसको अपना दास मान लें। आशय यह कि वस्तुतः दास्य-भाव ही एक ऐसा भाव है, जिसे हम सर्वत्र भक्ति भाव में सुरक्षित पाते हैं। चाहे आप अर्जुन को लें, चाहे सुदामा अथवा उद्धव को, चाहे आप नन्द-यशोदा को लें चाहे गोपिकाओं को, सर्वत्र आप को यही दिखाई देगा कि सभी अपने को अपने उपास्य का सेवक मानते हैं। यह बात दूसरी है कि अपने अपने उपास्य को वे अलग-अलग अपने अपने संबंध अथवा नाते से देखते हैं, और उसे पाने के लिए उसी नाते की साखी भी प्रस्तुत करते हैं, पर मानते सभी हैं अपने को सेवक या दास ही। अतएव हमें यह कहने में तनिक भी संकोच नहीं होता कि सखा, वत्सल और कांतभाव के मूल में भी वस्तुतः दास्य भाव ही रहता है, जो उनमें अपने शुद्धरूप में प्रकट न होकर सखा, वत्सल और कांत का बाना धारण कर लेता है, और मोटे तौर पर माधुर्यभाव का नियामक बन जाता है। हम उसे नये रूप में देख कर

ऐश्वर्यभाव से सर्वथा भिन्न समझ लेते हैं और उसके आस्वादन में मग्न हो लोक-मर्यादा को बहुत कुछ भुला देते हैं। यह हमारी भारी भूल है। हमें चाहिए कि हम परमात्मा के ऐश्वर्य को समझें और अपने को संकीर्ण भाव-भूमि से उठा कर उसी ऐश्वर्य का पात्र बनावें, जिसके लिये हम सदा से प्रयत्नशील हैं। परमात्मा को अपने पास बुलाकर उसके साथ मनमाना खिलवाड़ करने से तो यह कहीं अच्छा है कि हम मर्यादा का पालन करते हुए एक आज्ञापालक सेवक की भाँति परमात्मा को कण-कण में देखें और उसकी सारी रचना को समेट कर अपने विशाल हृदय में रख लें। हमारे रोम रोम से यही ध्वनि निकले कि हम परम-प्रभु के दास हैं ; उसके जीवों की सेवा में ही हमें उसका साक्षात्कार होता है, और हम परमानन्द में विभोर हो उठते हैं। यही हमारे जीवन का रहस्य है, और यही हमारी वह सुलभ रहस्यविद्या है, जो हमें सहज में ही परमात्मा का साक्षात्कार करा देती है और हम वियोगी से स्वतः ही परम संयोगी बन जाते हैं।'

माधुर्यभाव के प्रसंग में हम कह ही चुके हैं कि किसी लीलावतार के समय में ही उसका निर्वाह अच्छी तरह हो पाता है। उसके बाद के उपासक तो उसका उल्लेख भर करते रहते हैं, और सांप्रदायिक लोग भक्त विशेष को किसी तत्कालिक भक्त का अवतार कहकर ही उसकी उपासना को माधुर्यभाव के भीतर घसीट लाते हैं। इस कथन को स्पष्ट करने के लिए यह आवश्यक है कि हम सूरदास के भक्ति भाव पर विचार करें। परंपरा में सूरदास उद्धव के अवतार कहे जाते हैं। अतएव उनकी उपासना सख्य भाव की मानी जाती है। परन्तु वास्तव में उनके विनय के पदों में कोई बात ऐसी नहीं दिखाई देती, जिससे यह सिद्ध कर दिया जाय कि सूरदास कृष्ण की उपासना एक सखा के रूप में करते थे। इसके विपरीत हम बराबर देखते हैं कि सूरदास कृष्ण के ऐश्वर्य के उपासक हैं, और उनके दरबार के 'ढाढ़ी' होने में अपने को धन्य समझते हैं। कृष्ण के जिस बाल-रूप की उपासना उनके संप्रदाय में प्रचलित है उसका संबंध नंद-यशोदा के वात्सल्य भाव के साथ ही साथ गोपियों के कान्त भाव से भी है। मन तृप्ति के लिये तो सूरदास ने अपनी कविता में वात्सल्य और शृंगार का जितना विशद वर्णन किया है, उतना किसी अन्य भाव का नहीं। परन्तु

इसके आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि सूरदास की उपासना वात्सल्य अथवा कांतभाव की थी। सूरदासने कभी कृष्ण को अपना 'वत्स' अथवा 'कांत' नहीं माना। यशोदा नन्दन और गोपी वल्लभ का गुणगान सूरदास का कीर्तन था, कुछ भक्ति भाव नहीं। लीला का गुणगान भक्ति भावना से सर्वथा भिन्न होता है। दोनों को एक ही समझ लेना समझ का दुरुपयोग ही नहीं, भारी भूल भी है। हाँ, कांत भाव की उपासना मीरों में अवश्य पायी जाती है। मीरों अपने को कृष्ण की कांता समझती थी, और कृष्ण की उपासना कान्त भाव से करती भी थी। उधर वल्लभ सम्प्रदाय में बाल गोपाल का लालन-पालन एक बच्चे के रूप में किया जाता है। अतएव हम इस उपासना को वात्सल्य भाव की कह सकते हैं। किन्तु इसमें भी अड़चन यह सामने आ जाती है कि यहाँ भी राधिका कृष्ण के साथ लगी होती हैं, और भाव की अपेक्षा यहाँ क्रिया की ही प्रधानता रहती है। अस्तु, अब विचार करने की बात यह है कि नवधा भक्ति में भी दास्य एवं सख्य का उल्लेख तो किया गया है, पर वात्सल्य तथा कांत का नहीं। अतएव हमारी समझ में नवधा भक्ति के दास्य और सख्य का अर्थ साम्प्रदायिक दास्य और सख्य के अर्थ से कुछ भिन्न है। उसमें सख्य का तात्पर्य है उपास्य के इतना निकट हो जाना कि उसके साथ मित्र का सा व्यवहार करना तथा अपने आप को उससे अभिन्न मान लेना। अर्थात् मित्र-बुद्धि से उसे देखना, कुछ मित्र भाव से नहीं।

कांत भाव से मिलता-जुलता एक दूसरा भाव है, जिसका उल्लेख निर्गुण-संत सम्प्रदाय में प्रायः पाया जाता है। लोग भ्रमवश उसे भी माधुर्य भाव कह देते हैं किन्तु उस भाव का नाम है 'सहज भाव'। सहज भाव वास्तव में तांत्रिक बौद्धों का भाव है, जो स्त्री पुरुष के सहज संबंध पर अवलंबित है, और उसी अनुष्ठान में सहजानन्द' का संपादन करता भी है। किन्तु तांत्रिक वैष्णवों ने इस सहजानन्द के समुचित उपार्जन के लिए स्त्री पुरुष के सहज संबंध का क्रिया रूप में परिणत होना बंद कर दिया और उसकी प्राप्ति के लिए समागम का मूल स्थान सहस्रार में चुना। कबीर आदि के 'गगन-मंडल में सेज बिछाने' का यही रहस्य है। सहज भाव वस्तुतः यद्यपि कांत भाव का मूल है, तथापि वह कांत भाव से सर्वथा भिन्न है। कांत भाव का आलंबन पर

मात्मा होता है और सहज भाव का कोई व्यक्ति विशेष अथवा सामान्य रमणी मात्र। कबीर आदि निर्गुणी संत जहाँ हठ योग अथवा तंत्र के फेर में पड़ते हैं वहाँ तो शून्य में सेज का विधान कर देते हैं नहीं तो प्रायः परमात्मा को प्रियतम मान कर महामिलन अथवा महासुख का स्वप्न देखते हैं और ससुरार' जाने के लिए तड़पते रहते हैं। अतएव उनके इस भाव की गणना कांत भाव के भीतर की जायगी उसके बाहर किसी अन्य भाव में नहीं। कारण प्रत्यक्ष है। वे लोग जिस पुरुष को अपना प्रियतम मानते हैं वह वास्तव में परम पुरुष ही है कोई सामान्य पुरुष नहीं। यह बात दूसरी है कि संप्रदाय के कठोर आग्रह के कारण वह लीलाकारी अवतारी ब्रह्म नहीं प्रत्युत् निरंजन और निर्गुण पुरुष ही है।

भक्ति-भावों के संबंध में विचार करते समय यह याद रखना होगा कि प्रेममार्गी सूफी भी परमात्मा की उपासना प्रियतम के रूप में ही करते हैं और धूमधाम के साथ उसका विरह जगाते भी हैं। कहा जाता है उनकी उपासना भी माधुर्य अथवा कांतभाव की होती है। परन्तु हम इस मत से सहमत नहीं हैं। हमारी धारणा है कि सूफियों की भक्तिभावना कांत अथवा सहज भाव से सर्वथा भिन्न है। उसमें न तो भगवान् के लीला-विस्तारी रूप की चर्चा है और न सामान्य रति का सहज व्यापार ही। सूफी परमात्मा की उपासना प्रियतम के रूप में करते हैं सही पर उनका प्रियतम किसी भी रूप में सामने नहीं आता बल्कि किसी परदे की आड़ में आँख मिचौनी खेलता और बुतों में अपना जलवा दिखाता रहता है। सूफी सीधे तौर पर तो उसे देखने से रहे। अतएव उसके दीदार के लिए किसी लौकिक माशूक़' को चुनते हैं, और उसी के वियोग में खूब जोर शोर से अलौकिक विरह जगाते हैं। इस प्रकार उनका प्रियतम प्रत्यक्ष न होकर परोक्ष अथवा अलक्ष्य ही रहता है। हाँ उसकी आभा भर उसी लौकिक आलंबन में उन्हें फूटती दिखाई पड़ती है। निदान सूफी उसी आभा के इशारे पर अपने परम प्रियतम का साक्षात्कार किसी इलहाम या आवेश की दशा में करते हैं और होश सँभालने पर फिर उसी के लिए प्रमत्त हो उठते हैं। फलतः उनमें वह कामलता और वह स्वाभाविक प्रेम भी नहीं होता जो कांतभाव का प्राण है। अतएव उनके उक्त उन्मत्त भाव को देखकर हमारा जी चाहता है कि हम उनके भक्ति भाव को

अन्य भावों से अलग रक्खें, और समीक्षण मे सुबीते के लिये उसे मादनभाव' का स्वतत्र नाम दें। आशा है, हमारा यह नामकरण उपयुक्त एव समी चीन होगा, और अपनी योग्यता के कारण पंडित-मडली में भी मान्य होगा। इस प्रकार अब हम देखते हैं कि वास्तव मे मादन, सहज, माधुर्य एव ऐश्वर्य नामक चार स्वतत्र भक्ति-भाव हैं, जिनमें माधुर्य और ऐश्वर्य भावों की हमारे यहाँ बराबर चर्चा होती रही है, और कभी कभी उन्हीं के साथ सहज भाव का भी उल्लेख कर दिया गया है। पर मादन भाव सर्वथा एक नवीन भाव है, जिसके नामकरण की प्रेरणा तत्र-साहित्य से हुई है। जो लोग शांत भाव की गणना भक्ति भाव के भीतर करना चाहते हैं, उन्हें शान्त भाव नामक एक स्वतत्र पाँचवाँ भाव मानना चाहिये, जिसका स्थायी भाव उक्त भावों के स्थायी भाव से सर्वथा भिन्न है, और अनुरक्ति की अपेक्षा अनुध्यान पर अधिक अव लम्बित है। फलत उसका लगाव भी उक्त भावों के साथ कोई गहरा नहीं, हाँ, चित्य अवश्य है।

२—प्रेमयोग

रहस्य विद्या में जीवात्मा और परमात्मा के संयोग* को योग कहते हैं। सूफी इस संयोग का संपादन प्रेम के आधार पर करते हैं। अतएव उनके संयोग को प्रेमयोग कहते हैं। आजकल अँगरेजी की देखा देखी इसी प्रकार की भावना को हिन्दी में लोग रहस्यवाद अथवा छायावाद कहने लग गए हैं, जो वास्तव में भ्रमात्मक और हमारी मानसिक दासता का द्योतक है। रहस्यवाद वस्तुतः कोई वाद नहीं, रहस्य भावना की रक्षा का हलका सा प्रयत्न है। यही कारण है कि हमारे यहाँ के दार्शनिकों ने रहस्यवाद नामक कोई स्वतन्त्रवाद नहीं माना—उसके शुद्ध तार्किक स्वरूप को वेदान्त के भीतर लेजाकर एक ओर अद्वैतवाद आदि विविध वादों का आख्यान किया और दूसरी ओर भक्तिभावना के रूप में उसका प्रसार जन सामान्य में भी भली भाँति कर दिया। इस प्रकार हमारे यहाँ जीवात्मा और परमात्मा का संयोग किसी रहस्य या छाया के रूप में न दिखाकर शुद्ध योग के रूप में स्पष्ट और प्रत्यक्ष दिखाया गया। जिन सम्प्रदायों में परमात्मा की पूरी प्रतिष्ठा न थी उनमें इस 'संयोग' की कुछ छीछालेदर भी हुई और जनता 'वज्रयान,' 'सहजयान' आदि यानों पर चलकर नाना प्रकार की सिद्धियों में फँस गई। मन्त्रों के द्रष्टा का स्थान गाने के 'सिद्धों' तथा 'दर्शनियों' को मिल गया। हठयोग और रसेन्द्र की तूती बोलने लगी। उस समय प्रेमयोगी सूफी अपने प्रेमयोग का प्रचार जिन लोगों में करना चाहते थे उनमें हठयोगी नाथों तथा सिद्धों की पूरी प्रतिष्ठा थी और वे रसायन को भी मोक्ष का साधन समझने लग गए थे। अतः भारत के सूफियों ने उनके हृदय में प्रवेश पाने के लिए हठ और रसायन का भी समावेश अपने प्रेमयोग में कर लिया। वे आख्यानों तथा गानों के रूप में अपने मत का प्रचार करने लगे। कहना न होगा कि इस प्रकार उनके प्रेमयोग में कुछ ऐसी बातें भी मिलीं जो पहले के सूफी प्रेमयोग में न थीं। जिन सूफियों को प्रवर्त्तक बनने का चसका लगा उन्होंने तो हठयोग को अच्छी तरह अपना लिया पर

---

* संयोगं योगमित्याहुर्जीवात्मपरमात्मनः ।

अन्य सूफी उसे सहायक के रूप में देखते रहे। कबीर और जायसी इस बातके पुष्ट प्रमाण हैं। जायसी में उतना हठयोग कहाँ है जितना कबीर में ?

सच्चे सूफियों के प्रेमयोग के संबंध में यहाँ याद रखना चाहिये कि वे सामान्य अथवा लौकिक रति से द्वेष नहीं करते, बल्कि उसे अलौकिक रति की सीढ़ी समझते हैं। उनका दावा है कि लौकिक रति के आधार पर ही हम अलौकिक रति का अनुष्ठान करते हैं और उसी के पुल पर चलकर भवसागर का पार करते हैं। सचमुच सूफियों का यह दावा सीधा और सच्चा है। चाहे उस पुल पर चलने वाले पथिक अपने लक्ष्य से भ्रष्ट हो भवसागर में गिर पड़ें, चाहे अपने संयम और सदाचार के बल पर उसे सहज ही पार कर लें, किंतु इतना तो निर्विवाद है कि सूफियों का यह दावा ठीक है। लौकिक रति के बिना अलौकिक रति की भावना हो नहीं सकती। लौकिक रति के व्यापार में जो अनिष्ट दिखाई पड़ते हैं उनको हटा कर शाश्वत आनन्द का विधान करना ही रति की अलौकिक भावना का मूल मंत्र है। इस मंत्र के लिए हमारे हृदय में कोई अलग स्थान नहीं। यह रति भी हृदय के उसी कोने में अपनी झलक दिखाती है जिसमें लौकिक या अति सामान्य रति। अन्तर केवल यह होता है कि इसका आलंबन कोई अलौकिक व्यक्ति होता है और उसका कोई लौकिक या सामान्य प्राणी। कहने की आवश्यकता नहीं कि आलंबन की इस अलौकिकता के कारण ही ईसा और मुहम्मद लौकिक से अलौकिक व्यक्ति बन गए और उन्हीं संतों और सूफियों का प्रेम भी उन्हीं के साथ अलौकिक समझा जाने लगा। इसी अलौकिकता के कारण यदि सूफी शायरी में भ्रष्टाचार का प्रवेश हो गया तो संतों की संत-साहित्य में पाखंड का बोलबाला। दोनों ही शैतान के भुलावे में आ गए। आजकल की नवीन हिन्दी कविता भी इसी अलौकिकता के आग्रह से अनंत के पार भागी जा रही है। उसे इधर देखने की फुरसत नहीं।

यह तो हमने देख लिया कि आलंबन की अलौकिकता के कारण ही लौकिक रति को अलौकिक रति का रूप नसीब होता है। अब देखना यह है कि इस अलौकिक की प्रेरणा होती किधर से है। हमारी दृढ़ धारणा है कि हमारे साम्प्रदायिक संस्कार ही इस प्रेरणा के मूल प्रवर्त्तक हैं। हम अपने मजहब से मजबूर होकर ही लौकिक रति को अलौकिक रति का रंग देते हैं। कभी

हमारा रसिक हृदय निरत का अनुरक्त बनाकर अपनी सामान्य रति का परिमार्जन करता है तो कभी किसी सामान्य व्यक्ति का परम व्यक्ति के आसन पर बिठाकर उसका विरह जगाता है। मसीह की दुलहिनों ने त्यागी मसीह को अपना दुलहा बना लिया तो कर्मकांडी सूफियों ने उम्मी रसूल को इसानुल-कामिल। मसीह ने अपनी चहेती दुलहिनों को कुसुमबाण की लौकिक लीला म बचाया तो उम्मी रसूल ने अपने उन्मत्त भक्तों को इसलामी कठोर दड मे। यद्यपि आरंभ में दोनों ही सामान्य व्यक्ति थे तथापि निधन के उपरांत मजहब के आग्रह और हृदय की भीतरी प्रेरणा के कारण दोनों को ही 'महबूब' और नूर' बनना पड़ा और लोग उनके प्रेम में मग्न हो गए। सूफियों ने इस इंसानुल्कामिल के वियोग में जो गीत गाए उन्हें मुसलिम साहित्य में 'नात' कहते हैं। उनकी संख्या कम नहीं है। उन्हें हम विष्णु-पद के ढंग की रचना मान सकते हैं जिनमें कृष्ण के रूप म मुहम्मद याद किए गए हैं। तसव्वुफ में इसानुल्कामिल की प्रतिष्ठा गीलानी ने की जो जिज्ञासा की शान्ति के लिए भारत में आया था। उसने इस बात के सिद्ध करने की घोर चेष्टा की है कि वह अवतारवादी नहीं है और फलत' इसी से उसने अवतार-वाद को ग्रहण न कर 'लिबासवाद' को ग्रहण किया है। पर यह लिबासवाद भी वस्तुत वेदान्त के 'उपाधिवाद' का रूपान्तर है और इस बात का और भी पुष्ट करता है कि वास्तव में गीलानी अथवा तसव्वुफ का इसानुलकामिल हमारे यहाँ के पुरुषोत्तम' का प्रसाद है। जो हो इतना ता निर्विवाद है कि प्रेमयोगी सूफियों ने मुहम्मदसाहब को 'महबूब' बनाया है और राम एव कृष्ण के रूप में भी उनकी अभ्यर्थना की है। कहीं–कहीं तो उनके मुहम्मद और हमारे कृष्ण इतने मिल-जुल जाते हैं कि उनको अलग अलग पहिचानना भी दुस्तर हो जाता है। हम सच्चा यह नहीं कह सकते कि यहाँ मुहम्मद का गुणगान किया गया है कृष्ण का नहीं। देखिये-

ब्रज में आये स्याम कन्हाइ ।
परगट होत भये उँजियारा सरग ने सीस न ाइ।
तोर गगन से देखन आये मरपर छत्र चढाइ गाद लै नगमें फिराइ ॥१॥
बैकुंट से चीर पैसती देवतन लाये सिलाइ ।
सात बेर नहलाइ साँवरो अग सुगध लगाइ बसन मिलि-जुलि पहनाइ ॥२॥

ऐगुन नाश भये गुन फैले धरम ने शब्द सुनाई ।
मूरति आप टूट फूट गई; मंदिर माथ झुकाई; कहा मोहि शुद्ध बनाई ॥३॥
सूफी पिया से होरी खेलन को सुंदर रूप बनाई ।
अबीर गुलाल लिये कुंजन माँ, चितवत आस लगाई, मिलै कब दरस कन्हाई॥

प्रेमयोगी सूफियों ने मुहम्मद साहब को प्रियतम के रूप में अपनाया तो सही, पर उन्हें मजहबी अड़चन के कारण परब्रह्म का रूप न दे सके। फल यह हुआ कि मुहम्मद साहब न तो उनके एकमात्र 'परम कान्त' ही बन सके और न उनके 'परमकान्त' के प्रतीक ही। उनको तो परम कान्त अथवा परमब्रह्म का केवल कनिष्ठ रूप मिला। निदान सूफियों को अपने परम प्रेम का आलंबन किसी अन्य अथवा 'अमरद' को ही बनाना पड़ा। अमरद के संबंध में कुछ लोगों की धारणा है कि जब अरब पारस पर विजयी हुए और पारसीकों के हुस्न पर फिदा होने लगे तब इसका प्रचार शाही दरबार से लेकर खानकाहों (मठों) तक हो गया और मुसलिम कविता में इसका मजाक पैदा हुआ। पर हम अच्छी तरह जानते हैं कि अमरदपरस्ती शामियों की एक—निहायत पुरानी चीज है, जिसका प्रचार मुहम्मद, ईसा क्या, मूसा से भी बहुत पहले के पुराने नबियों और काहिनों में था। हमारी समझ में सूफी शायरी में इसके आधिपत्य के मुख्य कारण हैं—(१) अल्लाह का पुरुषविध होना (२) इसलाम में परदे का घोर विधान और (३) साथ ही साथ परंपरा का पालन भी। पुरुषविध के संबंध में याद रखना होगा कि शामी हौवा को आदम के पतन का कारण मानते हैं। अतएव मजहब की बुनियाद पर कभी किसी रमणी को प्रियतम का प्रतीक नहीं मान सकते। प्रवाद है कि स्वयं मुहम्मद साहब ने अल्लाह का साक्षात्कार किशोर के रूप में किया था। फिर प्रेमयोगी अमरद को उनका प्रतीक क्यों न मान लेते? आदम ही अल्लाह के प्रतिरूप थे, कुछ हौवा नहीं, जो उनके रमण के लिए उन्हीं की एक पसली से सोते समय तैयार कर दी गई थी। फिर भला हौवा की संतान परमप्रियतम का प्रतीक किस न्याय से बन सकती थी? लोग आज भी हौवा से कम नहीं डरते। अस्तु, उधर इसलाम ने रमणी को घोर परदे में ढकेल दिया और यह फलतः हरम में अच्छी तरह बंद रहने लगी और इधर अमरद की माँग बढ़ी

और खानकाहों में भी उसका खूब स्वागत हुआ। फिर तो अमरद धीरे धीरे प्रियतम का प्रतीक बन गया और गजलों में उसकी धाक जमी। परन्तु फारसी की मसनवियों में प्रेम का प्रसार स्वाभाविक ढंग पर ही चलता रहा और उसमें परम प्रेम की व्यंजना सहज रूप में ही फलीभूत हुई।

पद्मावत आदि हिन्दी के आख्यान काव्यों के अध्ययन में इस बात का बराबर ध्यान रखना चाहिए कि उनमें लौकिक प्रेम के आधार पर ही अलौकिक प्रेम की व्यंजना की गई है। उनमें आलंबन (माशूक) ही परमात्मा का प्रतीक माना गया है, कुछ आश्रय (आशिक) या पात्र विशेष नहीं। इस पद्धति का जिसे थोड़ा भी पता है वह यह अच्छी तरह जानता है कि पद्मावत में पद्मावती और रतनसेन बारी बारी से आलंबन और आश्रय हुए हैं। उनमें से किसी एक को परमात्मा का प्रतीक मानकर जायसी के आख्यान का परिहास करना अपनी अनभिज्ञता का ढिंढोरा पीटना है। पद्मावत में जायसी ने पद्मावती को 'बुद्धि' और रतनसेन को 'मन' कहा है। निदान उन्हें हम परमात्मा और जीवात्मा का प्रतीक नहीं कह सकते। उसमें परमात्मा का प्रतीक तो आलंबन मात्र होगा। अस्तु, प्रेममार्गी आख्यान-काव्यों में आसानी से कहा जा सकता है कि परम प्रेम उनमें व्यंग्य है, परन्तु लीला-विषयक काव्यों में यह कहना कुछ कठिन हो जाता है कि परम प्रेम उनमें कहाँ है। इसमें तो संदेह नहीं कि गोपियों ने कृष्ण को 'परमकान्त' के रूप में ही भजा था और प्रेम द्वारा ही उन्हें कृष्ण का संभोग मिला भी था। उनके लिए कृष्ण ही परमात्मा थे। अतएव उनका प्रेम मजाजी (लौकिक) और हकीकी (अलौकिक) दोनों था। दोनों के आलंबन एक ही कृष्ण थे। इसी से उनका प्रेम परोक्ष नहीं प्रत्यक्ष था। इसी से उसमें लौकिक और अलौकिक तथा वाच्य और व्यंग्य का झगड़ा नहीं। मीरों के प्रेम के विषय में भी हम यही बात कह सकते हैं। उसके लिए गिरिधर गोपाल ही सब कुछ हैं। पर जायसी के लिए यह नहीं कहा जा सकता। वे तो पद्मावती को 'बुद्धि' और 'रतनसेन' को 'मन' के रूप में ग्रहण करते हैं। इसका रहस्य क्या है? हमारी दृष्टि में जायसी ने पद्मावत में एक ओर तो रतनसेन और पद्मावती के पारस्परिक प्रेम में परम प्रेम की व्यंजना की है और

दूसरी ओर इस बात को पुष्ट किया है कि कठिन अभ्यास और साधना से हम जिस बुद्धि (मारिफ़) को प्राप्त करते हैं वस्तुतः वही हमें माया-बंधन (अलाउद्दीन की कैद) से मुक्त करती है।

कबीर आदि संत-सूफियों के प्रेमयोग में विचार करने की बात यह है कि उन्होंने राम और कृष्ण को पति का रूप किस दृष्टि से दिया है और अपने को पत्नी क्यों कहा है। संत-साहित्य का समीक्षक यह अच्छी तरह जानता है कि 'सद्‌गुरु' जब प्रेम-बाण से शिष्य को आहत कर देता है तब वह परम पुरुष का साक्षात्कार 'सहस्रार' अथवा शीर्षस्थान में कर लेता है और तभी से अपने को परम-पुरुष की विवाहिता पत्नी के रूप में देखने लगता है। उसके सामने पतिव्रता सती का रूप आ जाता है और उसी को अपना आदर्श मान,कर वह प्रेम के अखाड़े में रति का व्यायाम करता है। राम और कृष्ण को वह परम-पुरुष का वाचक समझता है, कुछ साकेत और गोलोक का निवासी नहीं। संस्कार अथवा लोभवश जब वह राम और कृष्ण की लीलाओं का उल्लेख करने लगता है तब हम उसे सूर और तुलसी के साथ भक्ति-भूमि पर पाते हैं, किन्तु ज्योंही उसके कान में यह ध्वनि पड़ती है कि राम अवतार तथा अवतारी दोनों हैं, त्योंही वह कुछ व्याकुल-सा हो जाता है और आग्रह कर कह बैठता है कि उसके राम वैष्णव भक्तों के राम से सर्वथा भिन्न हैं। राम के स्वरूप का निरूपण तो वह कर नहीं सकता, किन्तु उन्हें पति के रूप में मान कर उनके संयोग के लिए तड़प खूब सकता है। उसके प्रेम-प्रदर्शन में वह उद्वेग और वह क्षोभ नहीं मिल सकता जो सूफी शायरी में बराबर पाया जाता है। जो लोग ललिता और विशाखा के रूप में अपने को अंकित कर कृष्ण का विरह जगाते हैं उनके प्रेमयोग के विषय में क्या कहा जाय,? वे तो आधुनिक गोपी ही ठहरे। सूफियों में भी कभी कभी एकाध सूफी ऐसे निकल आते थे जो स्त्री-वेष में रहा करते थे, पर मजहबी अड़चन के कारण इस प्रकार का अभिनय कर नटराज को लुभा नहीं पाते थे।

ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे यह स्पष्ट नहीं हो पाता कि प्रेमयोगी, हिन्दी के सूफियों ने हठयोग को किस रूप में अपनाया है और उसे कहाँ

तक शाश्वत आनंद के लिए आवश्यक समझा है। सो यह तो कहने की बात नहीं कि सूफी भी वैष्णव भक्तों की भाँति 'प्रसाद' के कायल हैं और अल्लाह के तवक्कुल (प्रसाद) पर पूरा विश्वास रखते हैं, पर विचारणीय बात यह है कि सूफियों के शरीअत, तरीकत, मारफत और हकीकत आदि विभागों से हठयोग का कोई संबंध है अथवा नहीं। सो जो हम मनन करते हैं तो उक्त बातों का बौद्ध साधकों से कुछ साम्य स्थापित हो जाता है। बौद्ध साधक भी क्रिया, उपाय प्रज्ञा एवं बोधि की भूमियाँ मानते हैं और 'महासुख' के लिए 'सहजयोग' का संपादन करते हैं। बोधि प्राप्ति के लिए प्रज्ञोपाय उतना ही आवश्यक है जितना सूफियों के लिए तरीकत और मारफत। इसी से तो हमारा कहना है कि जो लोग हीनयानी रूखे निर्वाण के आधार पर तसव्वुफ या सूफी मत में बौद्ध-प्रभाव को कम करना चाहते हैं उन्हें वज्रयानियों के 'महासुख' पर अच्छी तरह विचार कर लेना चाहिए। जिस प्रकार वज्रयानी हठयोग को बोधि या महासुख का साधन समझते हैं उसी प्रकार सूफी भी उक्त भूमियों को हकीकत या बका का साधन मानते हैं। जायसी आदि प्रेमयोगी सूफियों ने साम्य के कारण हठयोग को अपनाया है और अपने आख्यानों में इसे प्रेम प्राप्ति का सहायक माना है। ज़िक्र, फ़िक्र और समा आदि को भी हम अपने यहाँ के स्मरण, ध्यान और संगीत प्रभृति के रूप में पाते हैं जिनका समाधान उपाय (तरीकत) में सहज ही हो जाता है। किन्तु भक्ति भावना की प्रबलता के कारण आगे चलकर सूफियों ने भी सगुण भक्तों की भाँति हठयोग को छोड़-सा दिया और परवर्ती मसनवियों में तो उसका विधान छूट-सा गया।

प्रेमयोग के प्रसंग में लगे हाथ यह भी देख लेना चाहिए कि प्रेम योगियों की निष्ठा क्या होती है। शुद्ध तर्क की दृष्टि से यद्यपि हमारे यहाँ ज्ञान और कर्म दो ही स्वतंत्र निष्ठाएँ मानी गई हैं तथापि हम देखते हैं कि भक्तों ने भक्ति भावना के आधार पर भक्ति नामक एक अन्य निष्ठा मान ली है और उसी में ज्ञान एवं कर्म का समन्वय भी कर दिया है। यदि यह ठीक है तो प्रेमयोगियों की निष्ठा को प्रेम निष्ठा कहना अनुचित नहीं कहा जा सकता। प्रेमयोगी प्रेमनिष्ठ की दशा में पहुँच कर विधि विधानों से सर्वथा मुक्त हो

जाता है। उसके कर्म उसकी प्रेमनिष्ठा में भस्म हो जाते हैं। किन्तु वह हमारे यहाँ के ज्ञानियों की भाँति कर्म से संन्यास नहीं ले लेता, प्रत्युत कर्मयोगियों की भाँति कर्म में निर्लिप्त भाव से लगा रहता है। उसके सारे काम लोक मंगल की दृष्टि से होते हैं। जो 'आज़ाद' होते हैं और किसी प्रकार के मजहब के पाबन्द नहीं होते वे भी सामान्य शील और सदाचार का प्रचार करते हैं और कण-कण में उसी प्रियतम की विभूति पाते हैं। अहिंसा पर उनका यहाँ तक ध्यान रहता है कि चींटी तक का दिल दुखाना उनको नहीं भाता। कहा जाता है कि 'ज़िंदीक़' बायज़ीद तीस कोस से इस लिए वापस लौट पड़ा था कि उसकी पगड़ी में किसी चीज के साथ कुछ चीटियाँ भी चली गई थीं। उनको वह उन्हीं के घर पहुँचाना चाहता था। मतलब यह कि लोक-मंगल के लिए प्रेमनिष्ठ सदा तत्पर रहता है और लोक-सेवा में ही उसे प्रियतम की वह परम आभा फूटती दिखाई पड़ती है जिसके प्रकाश में वह बुतों के परदे में भी खुदा को देखता रहता है। उसे कहीं आने-जाने या किसी इल्हाम की जरूरत नहीं पड़ती।

—०×०—

२—साधारणीकरण

साधारणीकरण के सम्बन्ध में असाधारण भ्रमजाल फैलाया गया है, उसपर विचार करने के पहले हमें कहना यह है कि—

"साधारणीकरण का अभिप्राय है पाठक या श्रोता के मन में जो व्यक्ति-विशेष या वस्तु-विशेष आती है, वह जैसे काव्य में वर्णित 'आश्रय' के भाव का आलम्बन होती है, वैसे ही सब सहृदय पाठकों या श्रोताओं के भाव का आलम्बन हो जाती है। जिस व्यक्ति विशेष के प्रति किसी भाव की व्यंजना कवि या पात्र करता है, पाठक या श्रोता की कल्पना में वह व्यक्ति-विशेष ही उपस्थित रहता है। हाँ, कभी कभी ऐसा भी होता है कि पाठक या श्रोता की मनोवृत्ति या संस्कार के कारण वर्णित व्यक्ति-विशेष के स्थानपर कल्पना में उसी के समान धर्मवाली कोई मूर्त्ति विशेष आ जाती है। जैसे, यदि किसी पाठक या श्रोता का किसी सुन्दरी से प्रेम है, तो शृंगार-रस की फुटकल उक्तियाँ सुनने के समय रह रहकर आलम्बन-रूप में उसकी प्रेयसी की मूर्त्ति ही उसकी कल्पना में आ गयी। यदि किसी से प्रेम न हुआ, तो सुन्दरी की कोई कल्पित मूर्त्ति उसके मन में आ गयी। कहने की आवश्यकता नहीं कि वह कल्पित मूर्त्ति भी विशेष ही होगी—व्यक्ति की ही होगी। कल्पना में मूर्त्ति तो विशेष की ही होगी; पर वह मूर्त्ति ऐसी होगी, जो प्रस्तुत भाव का आलम्बन हो सके, जो उसी भाव को पाठक या श्रोता के मन में भी जगाये, जिसकी व्यंजना आश्रय अथवा कवि करता है। इससे सिद्ध हुआ कि साधारणीकरण आलम्बनत्व धर्म का होता है। व्यक्ति तो विशेष ही रहता है; पर उसमें प्रतिष्ठा ऐसे सामान्य धर्म की रहती है, जिसके साक्षात्कार से सब श्रोताओं या पाठकों के मन में एक ही भाव का उदय थोड़ा या बहुत होता है। तात्पर्य यह कि आलम्बन-रूप में प्रतिष्ठित व्यक्ति, समान प्रभाववाले कुछ धर्मों की प्रतिष्ठा के कारण, सब के भावों का आलम्बन हो जाता है। 'विभावादि सामान्य रूप में प्रतीत होते हैं'—इसका तात्पर्य यही है कि रसमग्न पाठक के मन में यह भेद-भाव नहीं रहता कि यह

आलम्बन मेरा है या दूसरे का। थोड़ी देर के लिए पाठक या श्रोता का हृदय लोक का सामान्य हृदय हो जाता है। उसका अपना अलग हृदय नहीं रहता।" (द्वि० अ० ग्रन्थ, पृ० १४९ ५०)

स्वर्गीय आचार्य रामचन्द्रजी शुक्ल के कहने का साराश यह है कि कवि तो सदा अपर प्रत्यक्ष की भूमि पर रहता है और सामाजिक पर प्रत्यक्ष की भूमि पर—अर्थात् कवि पर-प्रत्यक्ष से अपर प्रत्यक्ष की ओर अग्रसर होता है, तो सामाजिक अपर प्रत्यक्ष की ओर से पर प्रत्यक्ष की ओर। उनके इस सिद्धान्त को समझना ता दूर रहा, उलटे यह लिखा गया कि—

'एक दूसरे विद्वान् लिखते हैं—'जब तक किसी भाव का कोई विषय इस रूप मे नहीं लाया जाता कि यह सामान्यत सबके उसी भाव का आलम्बन हो सके, तब तक उसमें रसोद्बोधनकी पूर्ण शक्ति नहीं आती। इसी रूप मे लाया जाना हमारे यहाँ साधारणीकरण' कहलाता है। 'साधारणीकरण से यह अर्थ लिया गया है कि विभाव अनुभाव आदि को साधारण रूप देकर सामने लाया जाय।" (साहित्यालोचन ' नवीनतम सस्करण ११९९, पृ० २८४)

निवेदन है, जी नहीं, कदापि नहीं। इसका आशय तो यह है कि आलम्बन उसी रूप में लाना चाहिए, जो मनुष्य मात्र के उसी भावका, उसी स्थिति मे आलम्बन हो सके—अर्थात् वह हो ता असाधारण, पर सामान्य भाव भूमि अथवा लोक हृदय से अलग नहीं। असाधारण इसलिए कि वह पाठक या श्रोताके हृदय को खींच सके और सामान्य भाव भूमि का इसलिए कि वह सबके भावका आलम्बन बन सके। अब यदि पूछा जाय कि फिर भला वह साधारणीकरण कहाँ गया, जिसकी चर्चा चल रही थी, ता झट उत्तर मिलेगा कि कहीं नहीं, वह तो इसी असाधारण आलम्बन को साधारण करने मे लगा है। उसे किसी का डर क्या कि वह कहीं जाने लगा ?

साधारणीकरण की जो उलझन सामने आ गई है, उसका मूल कारण है रसकी गति विधिसे सर्वथा अपरिचित होना। कारण, कोई भी विवेकशील व्यक्ति यह नहीं कह सकता कि रस 'अपर प्रत्यक्ष' की दशा म भी होता है और 'पर प्रत्यक्ष' की दशा में भी, अथवा कवि मे भी होता है और सहृदय में भी। तनिक सोचिए ता सही कि यदि यही होता, तो किसी साधारणी

करण की आवश्यकता क्या पड़ती और किसी शास्त्र का निर्माण कैसे होता? कहा जाता है कि राम और वाल्मीकि परम सात्विक थे, अत उन्हें तो रसका आस्वाद अपर प्रत्यक्ष में मिल गया, पर अन्योंको पर प्रत्यक्षमें ही मिलता है। प्रश्न उठता है कि जिस क्रौंच-वधसे व्यथित होकर वाल्मीकि बरस पड़े और जिस पंचवटीकी भूमि में राम सीता के वियोग में गिरकर लोट उठे उस वध और उस वियोग में रस किसी सहृदय का क्यों आता है, तो सम्भवतः उत्तर दिया जायगा पर प्रत्यक्ष के कारण अथवा साधारणीकरण के नाते।

परन्तु विचारणीय बात यह है कि रस होता कब है? शुद्ध सत्व की दशा में अथवा रज और तम के साथ? उत्तर है, शुद्ध सत्व में। और इसी हेतु तो राम और वाल्मीकि को परम सात्विक बनाया गया है? जी हाँ, किन्तु व्यर्थ ही। कारण, एक तो यह शास्त्रका नियम नहीं कि किसी को रस दशाकी प्राप्ति अपर-प्रत्यक्ष में हो और किसी को पर प्रत्यक्ष में। शास्त्र सबके लिए शास्त्र ही है। विज्ञान किसी का मुँह देखकर काम नहीं करता। उसका नियम नियम ही है। यह बात दूसरी है कि योग्यता के कारण समय की अपेक्षा कम हो, पर दशा तो बराबर वही रहेगी। कहने का तात्पर्य यह कि रस की दशा यदि पर-प्रत्यक्ष की दशा में प्राप्त होती है, तो सब को इसी दशा में प्राप्त होगी कुछ यह नहीं कि किसी राम को अपर-प्रत्यक्ष की दशा में हो जाती है, पर सबको अथवा किसी रामू को पर प्रत्यक्ष की दशा में। परन्तु राम और वाल्मीकि के उदाहरण से एक तथ्य स्फुट हो गया, जो है आश्रय में अपर प्रत्यक्ष का होना। आश्रय में सदा अपर प्रत्यक्ष ही रहता है, यह सिद्धान्त तो सम्भवत इस मत के पुरोहित पंडित केशवप्रसाद जी को भी मान्य होगा, क्योंकि साहित्यालोचन की नवीन रस मीमांसा उन्हीं के संकेत को समझकर खड़ी है।

अच्छा तो देखना यह चाहिए कि कवि कविता करते समय किस भूमिपर रहता है—अपर प्रत्यक्ष या पर-प्रत्यक्ष की? उत्तर किसी भी पंडित के मुँह से झट यही मिलेगा कि अपर प्रत्यक्ष की। कारण, कविता का जन्म ही 'मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समा' अथवा अपर प्रत्यक्ष में हुआ है। अत निष्कर्ष यह निकला कि कवि की वाणी सदा अपर-प्रत्यक्ष की दशा में ही फूटती है, कुछ पर प्रत्यक्ष की दशा में नहीं। अब, यदि यह ठीक है, तो

मानना पड़ेगा कि वाल्मीकि जैसे परम सात्विक व्यक्ति को भले ही 'शोक' में रस मिले, अपर प्रत्यक्ष में ही पर प्रत्यक्ष का आनन्द टपक पड़े; पर सबको तो यह वहाँ नसीब नहीं हो सकता। फिर कवि-मात्र को रस की अनुभूति इस न्याय से, कैसे हो सकती है? हो, इससे तो अभी अपना कोई काम नहीं। प्रश्न तो अभी यह था कि परम सात्विक वाल्मीकि के अलौकिक (असाधारण) शोक में किसी सहृदय को आनन्द कैसे मिल जाता है, वह तो परम सात्विक नहीं है।

स्यात् इसका सीधा उत्तर यही है कि साधारणीकरण के द्वारा। पर यह साधारणीकरण है क्या? उक्त पंडितजी का मत है—

"जब तक सांसारिक वस्तुओं का हमें अपर प्रत्यक्ष होता रहता है, तब तक शोचनीय वस्तु के प्रति हमारे मन में दुःखात्मक शोक अथवा अभिनन्दनीय वस्तु के प्रति सुखात्मक हर्ष उत्पन्न होता है। परन्तु जिस समय हम इन वस्तुओं का पर-प्रत्यक्ष होता है, उस समय शोचनीय अथवा अभिनन्दनीय सभी प्रकार की वस्तुएँ हमारे केवल सुखात्मक भावों का आलम्बन बन कर उपस्थित होती हैं। उस समय दुःखात्मक क्रोध, शोक आदि भाव भी अपनी अलौकिक दुःखात्मता छोड़कर अलौकिक सुखात्मता धारण कर लेते हैं। अभिनवगुप्तपादाचार्य का साधारणीकरण तो यही वस्तु है, और कुछ नहीं।" ('मेघदूत' की भूमिका, कल्पभवन संस्करण)।

न सही, वही हो, जो आप कह रहे हैं। पर प्रश्न तो यह है कि यह पर प्रत्यक्ष की दशा पाठक या सहृदय में आती कहाँ से है? वह इसकी प्राप्ति के लिए किस 'स्थूल' आलम्बन का ध्यान करता है? कुछ इसका भी तो पता होना चाहिए अथवा इस प्रकार की व्यवस्था से ही साहित्य मीमांसा की आँख खुल जायगी और साधारणीकरण सबकी समझ में आ जायगा? नहीं, साधारणीकरण को तो सबको समझाना होगा। अच्छा, तो अपर प्रत्यक्ष और पर-प्रत्यक्ष की व्याख्या में कहा गया है—

"शब्द अर्थ और ज्ञान इन तीनों की पृथक् प्रतीति वितर्क है। दूसरे शब्दों में वस्तु, वस्तु का सम्बन्ध और वस्तु के संबन्धी इन तीनों के भेद का अनुभव करना वितर्क है जैसे, 'यह मेरा पुत्र है,' इस वाक्य में पुत्र, पुत्र के

साथ पिता का जन्य जनक सम्बन्ध और जनक होने के नाते सम्बन्धी पिता— इन तीनों की पृथक् पृथक् प्रतीति होती है। इस पार्थक्यानुभव को अपर प्रत्यक्ष भी कहते हैं। जिस अवस्था में सम्बन्ध और सम्बन्धी विलीन हो जाते हैं, केवल वस्तु मात्र का आभास मिलता रहता है, उसे पर प्रत्यक्ष कहते हैं। जैसे, पुत्र का केवल पुत्र के रूप में प्रतीत होना। इस प्रकार प्रतीत होता हुआ पुत्र प्रत्येक सहृदय के वात्सल्य का आलम्बन हो सकता है!' (वही)

चखेड़ा है। अत' मानना होगा कि पर प्रत्यक्ष की स्थिति होने से ही सब-कुछ चट नहीं सध जाता। निर्वितर्क के आगे कुछ विचारों का भी सामना करना पड़ता है। साधारणीकरण में यह शक्ति नहीं कि दु:ख का सुख बना दे। दु:ख का सुख बनाना तो किसी और ही साधन का काम है। हाँ, साधारणीकरण से इतना अवश्य सामने आ जाता है कि एक का उद्‌बुद्ध भाव दूसरे के हृदय में भी कैसे बैठ जाता है और उसे या तो सचेतकर अपना अलग क्षेत्र बनाता है, अथवा उसमें पैठकर उसके विचार को जगाता और चित्तवृत्ति को और सूक्ष्म की ओर अगसर करता है। यही कारण है कि शोक सन्तप्त व्यक्ति का ज्ञान का पाठ पढ़ानेवाले बहुत से सहज ही निकल आते हैं, पर अपनी विपदा में किसी की सुनते नहीं। तात्पर्य यह कि साधारणीकरण का सीधा अर्थ है असाधारण का साधारण बना देना, सहृदय को सामान्य या सहज भाव भूमिपर ला देना, कुछ दु:ख को सुख बना देना नहीं। इसके लिए तो हृदय को 'अर्थ' या 'वस्तु' या 'भाव' से भी मुक्त होना होगा।

साधारणीकरण स्वयं एक ऐसा सशक्त और सारगर्भित शब्द है कि उससे उसके धर्म का बोध सहज ही हो जाता है। फिर भी कुछ उलझाऊ पंडितों ने घुल मिलकर उसे इतना उलझा दिया है कि उसने सन्निपात का रूप धारण कर लिया है। उसके विषय में बड़े अभिमान के साथ लिखा गया है—"चित्तवृत्ति की इसी एकतानता का नाम है साधारणीकरण।"

चित्तवृत्ति की इसी क्या, किसी भी 'एकतानता' का नाम 'साधारणीकरण' किस न्याय से होगा? ध्यान रहे, चित्त की एकतानता एक अवस्था है, जिसमें गति नहीं और साधारणीकरण एक प्रक्रिया है जिसमें स्थिति नहीं। तात्पर्य यह कि साधारणीकरण बताता है कि वस्तुत: किस प्रक्रिया के द्वारा असाधारण साधारण हो जाता है कुछ यह नहीं कि चित्तवृत्ति कब एकतान हो जाती है।

'साधारणीकरण' की आज विधि-विडम्बना से चाहे जैसी छीछालेदर हो और चाहे उसके जितने मनमाने अभूत अर्थ लगाए जायँ, पर वास्तव में उसका अर्थ यही है कि वह असाधारण का साधारण कर देता है। काव्य में असाधारण की कमी नहीं। संस्कृत काव्य के नायक नायिका तो प्राय: असाधारण ही होते हैं और तिसपर भी ऊपर से देवी देवता आ जाते हैं, अन्य

पात्रों के असाधारण कार्य अलग रहते हैं, फिर उन सबकी गति साधारण सामाजिक के साथ कैसे बैठती है? सभी असाधारण तथा साधारण एक टप्पर कैसे बैठ जाते हैं? साहित्य-शास्त्र मुँह खोलता है और तुरत कह देता है कि *साधारणीकरण के प्रताप से*। इतना सुनते ही कोई मगनबंधु मैदान में आ जाता है और झट कह बैठता है पर-प्रत्यक्ष की कृपा से मधुमती के प्रभाव से। पर क्या मधुमती भी कोई साधारण भूमि है? मधुमती भूमिका का साक्षात्कार ही तो साधारणीकरण नहीं है? तो क्या साधारणीकरण की कृपा से मधुमती का साक्षात्कार होता है? हाँ अवश्य। मानना यही होगा कि वास्तव में साधारणीकरण वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा असाधारण साधारण हो जाता है। पर असाधारण होता क्या है भाव या विषय या दोनों ही? इसमें तो सन्देह नहीं कि असाधारण का अधिकार सम्बन्ध है पात्र से अथवा उसके कार्य से। भाव तो प्रायः उसके भी वे ही रहते हैं जो साधारण के। साधारण और असाधारण का भेद तभी तक बना रहता है जब तक चित्त अपर प्रत्य।

हो, उसका साधारण बना देना न कि यह कि दुःखको सुख बना देना अथवा भाव-परिवर्त्तन कर देना। अस्तु अध्यापक केशवप्रसादजी का मत साधु नहीं ठहरता और यदि सत्य मान समझा जाय तो कहना ही होगा कि साधारणीकरण अथवा रसास्वाद की उनकी निजी मीमांसा किसी धारी के दुलहे के ही योग्य है किसी खरे मीमांसक के उपयुक्त कदापि नहीं।

साधारणीकरण साधारणीकरण ही क्यों कहा जाता है सामान्यीकरण क्यों नहीं? तो क्या साधारण और सामान्यके भेदको भी समझाना होगा? सामान्य और विशेष एवं जाति और व्यक्तिकी चर्चा तो 'प्रत्यक्ष'के प्रसंगमें प्रायः होती रहती है, पर साधारण और अद्‌भुत का विचार अन्यत्र ही होता है। सुन पूछिए तो सामान्य और साधारणमें भी कुछ ऐसा ही भेद है जिसपर ध्यान देनेसे साधारणीकरणकी गुत्थी आप ही बहुत कुछ सुलझ जाती है। स्मरण रहे काव्यके पात्र जितने ही अधिक सामान्य होते हैं, उतनी ही अधिक सरलतासे उनका साधारणीकरण भी हो जाता है, पर विशेष पात्रोंकी बात भी विशेष ही रह जाती है। उनका झुकाव अद्‌भुतकी ओर ही अधिक होता है और काव्यमें कुतूहल अथवा चमत्कार ही सब कुछ मान लिया जाता है। परन्तु जैसा कि कहा गया है वही अद्‌भुत अच्छा कहा जायगा, जो सामान्य हो, सर्वथा अलग अथवा निराला नहीं। उधर वही विशेष चित्ताकर्षक होता है, जो साधारण भी हो। कारण उसीका सच्चा साधारणीकरण हो पाता है और वही सबके आलम्बनका आदर्श बन पाता है। रामचरित मानसके राम हैं तो विशिष्ट व्यक्ति ही किन्तु करते हैं नर लीला ही—प्राकृत आचार ही। इसीसे तो कबीरने भी 'अद्‌भुत' की सीमा बाँध दी है और 'ऐसा अद्‌भुत मत कहो' का आदेश भी दे दिया है, अथवा उचित होगा, कैद भी लगा दी है। कारण यह है कि अद्‌भुत का साधारणीकरण कुछ कठिन होता है। वह सदा अलग रहकर ही अपना रंग जमाना चाहता है किसीके रंगमें अपना रंग मिलाना नहीं। निदान, कहना पड़ता है कि साधारणीकरण का विशेष से तो घना सम्बन्ध है पर अद्‌भुत से नहीं। अद्‌भुत तो एक प्रकार से उसका विरोधी है। कदाचित् यही कारण है कि अद्‌भुत अवर काव्य का ही भागी होता है और चित्र एवं कला में ही उलझकर रह जाता है। हाँ जो अद्‌भुत 'आश्चर्य' और

विस्मय' पर टिका होता है, वह अवश्य ही विशेष रमणीय होता है। कारण उसमें विशेषता का योग रहता है। अस्तु साधारणीकरण की व्याख्या में अद्भुत से बचना चाहिए और अपना रंग जमाने की चिन्ता छोड़कर विवेक का ही रंग जमाना चाहिए, अन्यथा अपना रंग तो क्या जमेगा, उलटे वितंडा का चालवाला हो जायगा और समीक्षा आँख मिचौनी की कला समझी जायगी।

साधारणीकरण के सम्बन्ध में संक्षेपमें जो कहा गया है, उसका सीधा अर्थ यह है कि वास्तवमें साधारणीकरण का सम्बन्ध सहृदय या सामाजिक से है कवि या रचयितासे नहीं—अर्थात् उसकी प्रक्रिया 'भावयित्री' प्रतिभा द्वारा होती है कुछ 'कारयित्री' प्रतिभा द्वारा नहीं। साधारणीकरण और मधुमती-भूमिका का जो लोग एक ही समझ रहे हैं और विज्ञानके कोतल घोड़ेपर बैठकर साहित्य का रस ले रहे हैं, उन्हें तनिक विवेक-भूमिपर आकर बुद्धिसे काम लेना चाहिए और 'रसो वै सः' को पहिचानना चाहिए।

४—आध्यात्मिक व्याख्या का एक ढर्रा

हमारी आध्यात्मिक व्याख्या किस ढर्रे पर चल रही थी इसकी जानकारी जनता को नहीं है। इसका परिणाम यह हो रहा है कि आजकल के शिक्षित लोग अपनी मानसिक दासता के कारण शामीमता की आध्यात्मिक व्याख्या को अपना रहे हैं और प्रमादवश उसे श्रुतियों का प्रसाद समझते हैं। यह तो निर्विवाद है कि शामीमत सेनानी ईश्वर के प्रसाद पर अवलम्बित हैं और उनमें रसूल मध्यस्थ का काम करते हैं। कर्म विपाक अथवा कर्मवाद की उनमें कोई दृढ़ प्रतिष्ठा नहीं। पर हमारे यहाँ ईश्वर सेनानी वा अधीश्वर नहीं, अपितु ब्रह्म और परमात्मा के रूप में प्रतिष्ठित है, और संसार की रक्षा तथा सज्जनों के परित्राण के लिए वह स्वतः संसार में अवतार लेता है और हमारे लिए दृढ़ मर्यादा स्थापित कर जाता है। उसे इस बात की आवश्यकता नहीं पड़ती कि वह स्वयं न आकर अपने किसी दूत से यह काम कराए। कर्म-विपाक की हममें इतनी प्रतिष्ठा है कि हम उसे भुला नहीं सकते। कहना चाहें तो हम यहाँ तक कह सकते हैं कि शामियों ने ईश्वर के प्रसाद के सामने कर्म को कुछ भी महत्त्व नहीं दिया, पर हमारे यहाँ के भक्तों तक ने कर्म को प्रधान माना है। कर्म एक ऐसा दृढ़ आधार है, जिसके द्वारा हम अपनी आध्यात्मिक व्याख्या को अन्यों से अलग रखकर देख सकते हैं और यह आसानी से दिखा सकते हैं कि वस्तुत हमारी आध्यात्मिक व्याख्या की प्राचीन परिपाटी क्या है और हम आज कहाँ तक अपनी अजीब आध्यात्मिक व्याख्याओं के द्वारा अपना हित वा अहित कर रहे हैं। खेद और लज्जा के साथ कहना पड़ता है कि आज कल जो आध्यात्मिक व्याख्याएँ हमारे सामने आरही हैं उनमें मानसिक दासता और उधार चमत्कार के अतिरिक्त यदि कुछ और दिखाई भी देता है तो वह अवश्य ही सत्य की हत्या और आर्य-संस्कृति का विनाश है। अतएव हम आध्यात्मिक व्याख्या के प्रवर्त्तकों को इस बात से सावधान कर देना चाहते हैं कि वे कृपाकर अपनी प्राचीन प्रणाली को समझ बूझ कर किसी पौराणिक गाथा वा प्राचीन कथा की आध्या-

त्मिक व्याख्या में लीन हों। कारण उधार चमत्कार अथवा काने तर्क से यदि किसी दिमाग की खाज मिट भी जाय तो भी उससे सत्य का प्रकाशन या आर्य जाति का मंगल न हो सकेगा। हाँ, उनकी इस ऊपरी चेष्टा से उन्हीं की श्रुति और अध्यात्म की सारी दुहाई चौपट हो जायगी और बेचारी भारतीयता भी नष्ट हो कहीं की न रह जायगी। किसी भी तथ्य की व्याख्या में उसके स्वभाव और सम्प्रदाय की उपेक्षा नहीं की जा सकती। व्याख्या का अर्थ है उसके स्वभाव का निदर्शन करना न कि उसके स्वरूप का नष्ट कर उस पर विजातीय रंग चढ़ा देना। अतएव हमें उन व्याख्याकारों से निवेदन करना है जो बात बात में अध्यात्म की दुहाई देते और उसके नाम पर धाँधली मचा किसी प्रकार नगद नाम कमाना चाहते हैं कि वे कृपा कर एक बार आध्यात्मिक व्याख्या के अपने प्राचीन ढर्रे को समझ लें और फिर अध्यात्म के क्षेत्र में उतरें और चमत्कार दिखाकर धन्य बनें। यदि वे ऐसा नहीं करते तो उन्हें अपने कृत्यों के लिए उस समय पछताना पड़ेगा जब उनकी भर्त्सना और निन्दा होगी और उनका दर्शन भी कलंक का द्योतक समझा जायगा। उस समय पछताने के सिवा उनके हाथ में और कुछ न रहेगा और उनकी सारी शान मिट्टी में मिल जायगी। व्यास बनने से उनके लिए कहीं अच्छा है कि वे विश्वामित्र बनें। इसमें चमत्कार भी है और मनोरंजन भी।

जो कुछ ऊपर कहा गया है वह तब तक अधूरा ही समझा जायगा जब तक हम यह न दिखा दें कि आध्यात्मिक व्याख्या का हमारा पुराना ढर्रा क्या है। सो अपने इस प्रयत्न में हम एक ऐसे पात्र को चुनना चाहते हैं जिसके प्रति किसी के हृदय में श्रद्धा नहीं और जिसकी उपेक्षा राधा-कृष्ण के व्याख्याता भी इसलिए कर जाते हैं कि उनकी दृष्टि में उसका राधा कृष्ण का अन्योक्ति अथवा रूपक से मेल नहीं खाता। कर्म विपाक की दृष्टि से राधा कृष्ण की जो व्याख्या की जाती है यहाँ उसकी ओर हमारा संकेत नहीं है। हम तो यहाँ उन लोगों के विषय में संकेत कर रहे हैं जिनकी दृष्टि में कृष्ण अवतार लेते हुए से जान पड़ते हैं।' हां, तो हमारा संकेत शूर्पणखा उपनाम कुब्जा की ओर है। उपनाम को देखकर कुछ लोग चौकेंगे। परन्तु जो लोग जानते हैं कि स्वर्गीय 'रत्नाकर' जी ने उद्धवशतक में लिखा है कि—

"सीता असगुन की कराई नाक एक वेरि,
सोई करि कूब राधिका पै फेरि पाटी है"

ये इसको देखकर यह जानने की इच्छा करेंगे कि आखिर बात है क्या ? 'रत्नाकर' जी ने क्यों इस प्रकार लिख दिया ?

बात यह थी कि रत्नाकर जी हवाई आलोचक न थे। उनको अपने अध्यात्म का दर्श भलीभाँति ज्ञात था। पुराणों का उन्होंने अध्ययन किया था। भक्ति भाव के मर्म से वे परिचित थे। अतएव उन्होंने कुब्जा और शूर्पणखा को एक कर दिया।

रामचरित मानस के पाठकों को याद होगा कि गोस्वामी तुलसीदास ने शूर्पणखा के अंत के संबंध में कुछ नहीं कहा। राक्षसों के विषय में गोस्वामी जी ने स्पष्ट लिखा— रघुबीरसर तीरथ शरीरन्हि त्यागि गति पैहैं सही" पर बेचारी शूर्पणखा के लिए किसी प्रकार का संकेत नहीं किया। केशवदास, मैथिलीशरण गुप्त आदि अन्य कवियों ने तो उसे कामिनी के रूप में अंकित कर कथा का चलता कर दिया, उस तपस्विनी की भक्ति भावना पर उनका ध्यान ही न गया। परन्तु भक्तों के सामने शूर्पणखा का प्रश्न बना रहा। माना कि शूर्पणखा कामासक्त हो राम का वर बनाने चली थी, पर राम थे तो भगवान्। भक्तों का जब अभिमान है कि भगवान् काम-भाव से भी प्राप्त हो जाते हैं तब वे शूर्पणखा को क्या नहीं मिले ? बात यह थी कि शूर्पणखा का काम-भाव उस समय तक स्थिर नहीं हुआ था। वह राम के संकेत पर लक्ष्मण और लक्ष्मण के समझाने से राम पर लट्टू हो रही थी। जब उसको गहरी ठेस लगी तब वह भयंकर हो उठी और अपने भयानक रूप को प्रकट कर सीता को डराने लगी। राम ने देखा कि इसे अपने भयंकर रूप का गर्व है, अतएव लक्ष्मण से संकेत में कह दिया कि भैया ! इसे तनिक और भ भयंकर बना दो और देखो कि यह क्या कर लेती है। शूर्पणखा ने देख लिया कि राम उसकी माया के परे हैं। पर अभी तक उसके अभिमान का अंत न हुआ। जब उसने देखा कि खर दूषण से पराक्रमी वीर भी राम का कुछ न कर सके तब उसकी आँखें खुली, किंतु तो भी जी की कसक न गई। उसने रावण को उभारा और धीरे धीरे देख लिया कि राम में केवल अलौकिक रूप ही नहीं

अलौकिक शक्ति भी है। वह जान गई कि राम का एकपत्नीव्रत दृढ़ है और रूप के जाल में वह नहीं फँस सकते। निदान उनकी प्राप्ति के लिए तप करने चली गई उसमें प्रणिधान और प्रपत्ति का भाव आ गया।

यहाँ तक तो कोई बात न थी। इसे शामीमत के समीक्षक भी समझ सकते हैं। वे कह सकते हैं कि जिस रति भाव के कारण हौवा और आदम का पतन हुआ उसीके कारण शूर्पणखा तथा रावण का। पर भारतीय भक्त को इतने से संतोष नहीं होता, वह कहता है कि रति उसकी अपनी बनाई हुई चीज नहीं है, फिर उसके कारण उसका पतन कैसे हो सकता है? हाँ, भाव तो परमात्मा से मिले हैं और उन्हें उसी में लगाना भी चाहिए। हमारी भूल तो इस बात में है कि हम अपने आपको महत्त्व देते हैं और इस प्रकार अपनी अच्छी भावना का शिकार बन ओछे कर्म करने लगते हैं और तिस पर भी अपने आपको कर्त्ता समझ बैठते हैं। फलतः हमें उन कर्मों का फल भी भोगना पड़ता है। इसीलिए भारतीय भक्त काम भाव को कोसते नहीं प्रत्युत यह प्रतिज्ञा रखते हैं कि काम भाव से भी भगवान् मिल जाता है।

शूर्पणखा को ओछे कर्मों का फल मिल गया। उसकी ममता मिटी और वह रामकी प्राप्ति के लिए तप करने लगी। महादेवने देखा कि अब इसका भाव ठीक हो गया। इसने समझ लिया कि तप रूप और ऐश्वर्य से बढ़कर है। परमात्मा तप और प्रणिधान से मिलता है, कुछ छल-छन्द या वितंडा से नहीं। अतएव उन्होंने उससे समझा कर कह दिया कि देखो राम तुम्हें मिलेंगे अवश्य, पर इस शरीर से नहीं। जिस प्रकार तुम्हारा आभ्यंतर बदल गया उसी प्रकार अपने बाहरी चाले को भी बदल लो और बदले में उस बदले हुए रूप को प्राप्त करो जिसके लिये तुम तप कर रही हो।

शूर्पणखा को रूप की कामना न रही। उसने मथुरा में कुब्जा का रूप धारण किया और ठान लिया कि परम सौंदर्य की प्राप्ति इसी कूबर रूप में हो तब तो ठीक, अन्यथा बात ही क्या रही। सो कृष्ण और बलराम ने जाकर उसे स्वयं देखा। अब की बार कुब्जा ने कृष्ण को नहीं छेड़ा। नहीं, अबकी तो कृष्ण ने ही उसे छेड़ा और उससे अंगराग अथवा चन्दन का दान ले उसे अलौकिक रूप दिया। जिसने उसे कुरूप किया था उन्हींने उसे सुरूप किया। मौज

में आकर नहीं, उसके कर्मों और भाव भजन का देख कर उस पर रीझ कर दी।

ऊपर जो कुछ कहा गया है वह हमारे मस्तिष्क की उपज नहीं, पुराण और भारतीय भक्ति- परंपरा का सार है। गर्गसंहिता में स्पष्ट कहा गया है—

"सैव शूर्पणखानाम राक्षसी कामरूपिणी।
अभूच्छ्रीमथुरायां तु कुब्जा नाम महामते॥
महादेव वरेणापि श्रीकृष्णस्य प्रियाभवत्॥"

यही वार्ता ब्रह्मवैवर्त पुराण में भी कुछ परिवर्तन के साथ आई है। उसमें कहा गया है कि शूर्पणखा ने जाकर पुष्कर में तप किया और ब्रह्मा ने उसे वरदान दिया कि —

"अप्राप्य राम दुष्प्राप्य करोषि पुष्कर तप।
जितेन्द्रियाणा प्रवर लक्ष्मण सर्वलक्षणम्॥
ब्रह्मविष्णुशिवादीनामीश्वर प्रकृतेः परम्।
जन्मान्तरे च भर्तार लभिष्यसि वरानने॥"

ब्रह्मा से वरदान मिल जाने पर शूर्पणखा ने अपने शरीर को छोड़ दिया। उसे इस बात का आग्रह न था कि उसे भगवान् उसी शरीर से मिलें। उसने तो स्वयं न जाने कितने रूप धारण कर भगवान् का छलना चाहा था। निदान वह मथुरा में कुब्जा के रूप में उत्पन्न हुई। ब्रह्मवैवर्त पुराण म इसका भी निर्देश है—

"इत्येवमुक्त्वा ब्रह्मा च जगाम स्वालय मुदा।
देह तत्याज सावहौ सा च कुब्जा बभूव ह॥"

अब तो आप ने देख लिया कि राम ने क्यों शूर्पणखा की दुर्गति की और क्यों कृष्ण ने उसे सुगति दी। क्या अब भी आपका यह मानने में संकोच है कि हमारी आध्यात्मिक व्याख्या कर्म को लिए हुए चलती है और वह कर्म विपाक की अवहेलना नहीं करती? यदि नहीं, तो कृपया उन आसमानी आध्यात्मिक व्याख्याकारों का समझा दीजिये, जिन्हें सर्वत्र शैतान का हाथ दिखाई देता है और जो उधार चमत्कार के बल पर नगद नाम कमाने के फेर में पड़े हैं और इधर उधर से नोंच खसोट कर न जाने किस अध्यात्म का मसान जगाते हैं। सो भी भारतीयता के नाम पर! रहस्य विद्या के आधार पर!! धन्य!!!

५—मधुमती में रस-भूमि ?

वादी ने अपने अटपटे ज्ञान के आधार पर जिस मधुमती को रस भूमि ठहराया है उसकी चर्चा पहले (सरस्वती अगस्त, १९४२ ई० में) हो चुकी है। यहाँ बताया यह जाता है कि वास्तव में योग की दृष्टि से रस-भूमि कहाँ है! प्रसंग में भूलना न होगा कि—

"पातञ्जल योगशास्त्र में असंप्रज्ञात और समाधि दो प्रकार की बतलायी गयी है—भव प्रत्यय और उपाय प्रत्यय। चित्तवृत्ति का सम्यक् निरोध ही असंप्रज्ञात समाधि का लक्षण है, चित्त आत्मा का अत्यन्त निकटवर्ती है, यहाँ तक कि दोनों में स्व स्वामि संबंध वर्तमान है, व्युत्थान अवस्था में द्रष्टा पुरुष अपना स्वरूप भूलकर वृत्तिसंकुल चित्त के साथ अपने को अभिन्न समझता है और वृत्तियों का आकार धारण कर लेता है, परंतु जब वृत्तियों का निरोध हो जाता है तब उसके लिए इस प्रकार वृत्तियों का आकार धारण करना संभव नहीं होता। इस वृत्तिहीन अवस्था में पुरुष चैतन्य प्राप्त कर के द्रष्टा या साक्षी के रूप में अवस्थित होता है। अथवा गंभीर अज्ञान से आच्छन्न हो कर एक ओर जिस प्रकार विषयज्ञानशून्य हो जाता है, दूसरी ओर उसी प्रकार अपने चित्स्वरूप की उपलब्धि से भी वंचित रहता है। शास्त्रानुसार यही प्रकृति लय अथवा जड़ समाधि की अवस्था है। यह योगियों के लिए कदापि काम्य नहीं। वृत्तिहीन होने से यद्यपि यह असंप्रज्ञात समाधि के अंतर्गत ही है तथापि ज्ञान का उन्मेष न होने के कारण यह योगा वस्था नहीं है। पतञ्जलि इसी को भव प्रत्यय असंप्रज्ञात कहते हैं। प्रकृतिलीन की तरह विदेह देवता भी इसी अवस्था में रहते हैं। योगियों की वास्तविक योगावस्था उपायप्रत्यय असंप्रज्ञात समाधि के रूप में ही साधक समाज में परि-चित है। उपाय का अर्थ यहाँ पर प्रज्ञा अर्थात् शुद्ध ज्ञान समझना चाहिए। सम्यक् ज्ञान उत्पन्न होकर निरुद्ध होने पर जिस असंप्रज्ञात समाधि का आवि र्भाव होता है, उसको 'शुद्ध' ज्ञान के अनुदयकालीन असंप्रज्ञात समाधि के साथ कभी नहीं हो सकती। भवप्रत्यय अवस्था में कुछ समय तक चित्त

निरुद्ध रहने पर भी कालान्तर में उसका व्युत्थान अवश्यम्भावी है, क्योंकि तब तक चित्त के संस्कार सम्पूर्ण रूप में वर्तमान रहते हैं। क्योंकि प्रज्ञा उत्पन्न होने पर क्रमशः संस्कारों का दाह करने से जो असंप्रज्ञात समाधि आविर्भूत होती है, उसमें व्युत्थान की कोई आशंका नहीं रहती। वास्तव में उसी को एक प्रकार से कैवल्य का पूर्वास्वाद कह सकते हैं।

"बौद्ध योगी प्रतिसंख्या निरोध और अप्रति संख्यानिरोध नाम से जो दो प्रकार के निरोध का वर्णन करते हैं, वे अधिकांश में उपायप्रत्यय और भावप्रत्यय असंप्रज्ञात समाधि के समान हैं। सम्प्रज्ञात समाधि में प्रवेश किये बिना असम्प्रज्ञात समाधि प्राप्त करना कभी योगियों के लिए प्रार्थनीय नहीं है। अविद्यादि क्लेशों का दाह न कर केवल मात्र वृत्तियों का निरोध कर लेने से ही पुरुष आत्मस्वरूप में व्यवस्थित होने में समर्थ नहीं होता। ज्ञान के अतिरिक्त अविद्या का बीज नष्ट करने का और कोई उपाय नहीं है। क्रियायोग के द्वारा अर्थात् तपस्या, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान का अनुष्ठान यथा विधि करने पर भी अविद्या-संस्कार को दग्ध नहीं किया जा सकता। परन्तु इसी कारण यह नहीं कहा जा सकता कि क्रियायोग निष्फल है, क्योंकि क्रियायोग के प्रभाव से संस्कारों का स्थूल रूप कट जाता है और वह सूक्ष्म आकार धारण कर लेता है। तदनन्तर प्रसंख्यान या ज्ञानाग्नि प्रज्वलित होते ही वह दग्ध हो जाता है। सम्प्रज्ञात समाधि की प्रत्येक भूमि में ही उसके आश्रय से ज्ञान का विकास होता है। फिर सास्मिता भूमि में सालम्ब ज्ञान की चरम शुद्धि सम्पन्न होती है। इसका पारिभाषित नाम ग्रहीतसमापत्ति है। श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा—ज्ञानप्राप्ति का यही स्वाभाविक क्रम है, 'श्रद्धावाल्लभते ज्ञानम्' गीता के इस वचन में भी ज्ञान प्राप्ति के मूल में श्रद्धा को ही स्थापित किया गया है। श्रद्धाहीन व्यक्ति लाख प्रयत्न करने पर भी ज्ञान प्राप्त करने में समर्थ नहीं होता। भावप्रत्यय असम्प्रज्ञात समाधि में चित्त का निरोध होने पर भी अविद्या की निवृत्ति नहीं होती। अविद्या तथा तज्जनित संज्ञा वर्तमान रहने पर आत्मा मुक्ति नहीं प्राप्त कर सकता, यही योगशास्त्र का सिद्धांत है।" (योगांक, योग का विषय परिचय, पृ० ५४५, कल्याण, सं० १९९२ गोरखपुर)

महामहोपाध्याय आचार्य गोपीनाथ कविराजजी ने अभी अभी जो योगशास्त्र का परिचय दिया है उसमें 'भवप्रत्यय' और 'उपायप्रत्यय' की व्याख्या भी पूरी हुई है और यह भी बता दिया गया है कि भवप्रत्यय में 'मुक्ति' क्या नहीं होती। परन्तु विचारणीय बात यहाँ यह है कि क्या 'रसिक' कभी मुक्ति चाहता भी है। 'रस विशेष' के जानकार गोस्वामी तुलसीदास क्या टंकार करते हैं ? यही न—

"सगुणोपासक मुक्ति न लेहीं, तिनकहँ राम भक्ति निज देहीं।"

तो फिर 'रस' को भवप्रत्यय के साथ क्यों नहीं देखते ? रसिक कब ज्ञान को डींग मारता है ?

भवप्रत्यय की बात को अभी यहीं छोड़िए और देखिए कि उपायप्रत्यय की किस भूमि में मधुवादी रस की निष्पत्ति मानता है। सो प्रकट ही है कि मधुमती भूमिका में। किंतु मधुमती भूमिका में भी अनेक भूमियाँ हैं। सो उनमें से किस भूमि को वह रस भूमि कहता है। अच्छा उसी के मुँह से सुन लें—

'जब तक सांसारिक वस्तुओं का हमें अपर प्रत्यक्ष होता रहता है तब तक शोचनीय वस्तु के प्रति हमारे मन में दुःखात्मक शोक अथवा अभिनन्दनीय वस्तु के प्रति सुखात्मक हर्ष उत्पन्न होता है, परन्तु जिस समय हमको वस्तुओं का पर प्रत्यक्ष होता है उस समय शोचनीय अथवा अभिनन्दनीय सभी प्रकार की वस्तुएँ हमारे केवल सुखात्मक भावों का अवलम्बन बन कर उपस्थित होती हैं। उस समय दुःखात्मक क्रोध, शोक आदि भाव भी अपनी लौकिक दुःखात्मता छोड़ कर अलौकिक सुखात्मता धारण कर लेते हैं। अभिनव गुप्त पदाचार्य का साधारणीकरण भी यही वस्तु है और कुछ नहीं।

"योगी अपनी साधना से इस अवस्था को प्राप्त करता है। जब उसका चित्त इस अवस्था को या इस 'मधुमती-भूमिका' का स्पर्श करता है तब समस्त वस्तुज्ञान उसे दिव्य प्रतीत होने लगते हैं। एक प्रकार से उसके लिए स्वर्ग का द्वार खुल जाता है। पातञ्जल सूत्रों के भाष्यकर्ता भगवान् व्यास कैसे सुन्दर शब्दों में इसका वर्णन करते हैं—" (मेघदूत की भूमिका से साहित्यालोचन के नवीनतम संस्करण में अवतरित)।

भगवान् व्यास के उन सुंदर शब्दों की झाँकी लेने के पहले जानना यह

चाहिए कि क्या यह किसी प्रकार भी सम्भव है कि पर प्रत्यक्ष की 'दशा में 'दुःखद वस्तु सुखद हो जाय । अपर प्रत्यक्ष और पर प्रत्यक्ष का उक्त भेद चाहे जितना दिव्य माना जाय पर वास्तव में है यह निराला ही। कोई शास्त्र इसको सुन नहीं सकता। संक्षेप में यहाँ इतना ही टाँक लें कि योग चित्तवृत्तियों का निरोध सिखाता है, कुछ दुःख को सुख बनाना अथवा उसका परिवर्तन नहीं। योग कोई इन्द्रजाल तो है ही नहीं कि साधक को चकमा देता फिरे। वस्तु अपर प्रत्यक्षमें जो अर्थ रखती है वही पर प्रत्यक्ष में भी। हाँ, आलम्बन की सूक्ष्मता से साधना भी सूक्ष्म अवश्य हो जाती है पर कभी चित्तवृत्ति कुछ और से कुछ और नहीं हो जाती। वह भी उसी अनुपात में निरुद्ध होती रहती है, कुछ रंग नहीं बदलती रहती है। रही 'मधुमती भूमिका' की बात, सो उसके विषय में भी इतना जान लें कि वास्तव में उसकी तीन भूमियाँ हैं—१ सग भूमि, २ सम भूमि, और ३ विवेकज्ञान, ऋतम्भरा प्रज्ञा या ज्ञातदेय भूमि। सो किसी भी भूमि में 'समस्त वस्तुजात' किसी भी साधक का दिव्य प्रतीत नहीं होते; हाँ, सगभूमि में अवश्य ही दिव्यलोक दिखायी देता है। देखिए न भाष्यकार भगवान् व्यास इस भूमिका के विषय में स्वयं क्या कहते हैं। यही न—

"मधुमती भूमिका का साक्षात्कार करते ही साधक की शुद्धि सात्विकता देख कर देवता अपने-अपने स्थान से उसे बुलाने लगते हैं--इधर आइए, यहाँ रमिए इस भोग के लिए लोग तरसा करते हैं, देखिए कैसी सुन्दरी कन्या है, यह रसायन बुढ़ापा और मौत दोनों को दबाता है, यह आकाशयान, ये कल्पवृक्ष, यह पावन मन्दाकिनी, ये सिद्ध महर्षिगण, ये उत्तम और अनुकूल अप्सराएँ, ये दिव्य श्रवण, यह दिव्य दृष्टि, यह वज्र सा शरीर सब आप ही ने तो अपने गुणों से उपार्जित किया है। फिर पधारिए न इस देवप्रिय अक्षय, अजर, अमर स्थान में।" (मेघदूत की भूमिका, वही)

अंतिम वाक्य से प्रकट ही है कि भगवान् व्यास साधक को किसी 'अमर स्थान' में 'पधराना' चाहते हैं कुछ 'समस्त वस्तुजात' में रमाना अथवा दुःखद आलम्बन को सुखद बनाना नहीं। नहीं, ऐसा कोई भी विवेकशील व्यक्ति कर नहीं सकता। यह अनहोनी बात हो नहीं सकती। व्यास जी तो

भगवान् ही ठहरे। उनकी ओर से यह मनमानी कैसे हो सकती है ?

'संग-भूमि' के प्रसंग में भूलना न होगा कि इसमें महेन्द्रादि देवों को उपनिमंत्रण मिलता है और महेन्द्रादि देवों का स्वयं भगवान् व्यास ने 'कामभोगिन औपपादिक देहा उत्तमानुकूलाभिरप्सराभिः कृतपरिवारा' (योगसूत्र ३–२६ का भाष्य) लिखा है जिसकी व्याख्या में 'सर्वतन्त्रस्वतन्त्र दार्शनिक शिरोमणि वाचस्पति मिश्र' ने 'कामभागिना' को मैथुनप्रिया' लिख दिया है। फिर आप कहें कि इस संग की यह दार्शनिक व्याख्या कहाँ तक साधु है कि "जिसका दुःख से सम्पर्क नहीं, जिसमें दुःख का अन्तराय नहीं, जिसको दुःख निगल नहीं सकता और जो इच्छा मात्र से उपलब्ध हो जाता है वह विशेष सुख ही स्वर्ग है। (सांख्यतत्त्व कौमुदी)।"

नहीं यह 'स्वःपदास्पद' अथवा स्वर्ग' नहीं, यह तो 'संगभूमि' है। इसके लिए सांख्य में मूड़ मारना व्यर्थ है। योग ने स्वतः इसको स्पष्ट कर दिया है हाँ आँख खोलकर देखने की आवश्यकता अवश्य है।

संग' का मधु' से घना सम्बन्ध है। मधुपर्क या मधुपान के मधु से तो सभी परिचित हैं पर मधु का मूल कहाँ है ? आप मधुगृह से लेकर अंगरेजी के हनीमून (मधुसोम) तक दृष्टि दौड़ाइए तो पता चले कि जो पुष्परस को मधु कहते हैं उसका रहस्य क्या है। स्मरण रहे यह मधु और कुछ नहीं 'प्रधान' या प्रकृति का वह द्रव है जो कण कण को सम्पृक्त कर प्रजातन्तु को आगे बढ़ाता और सृष्टि को चालू रखता है। इसी की मधुर प्रेरणा से जीव में संग' की कामना होती है और यही संग भव-बन्धन का कारण बनता है। याद रहे, यही वह भूमि है जिसमें विश्वामित्र को मेनका का लाभ हुआ और शकुन्तला सा फल हाथ लगा। इसकी दार्शनिक व्याख्या क्या करोगे ? पहले इसके स्वरूप को तो समझो !

अच्छा तो संगभूमि है क्या ? साधक की साधना में इसका स्थान कहाँ है ? बात यह है कि साधक चित्तवृत्ति को साधते साधते जब इस योग्य हो जाता है कि वह योग प्रदीप' अथवा 'ऋतंभरा प्रज्ञा के सहारे आगे बढ़े और 'भूत' तथा 'इन्द्रियजयी' बन जाय तब उस पर महेन्द्रादि देवों की कृपा होती है और उसके समस्त इन्द्रिय सुख सजाये जाते हैं। इसी को विज्ञान

के शब्दों में यों कहो कि इस भूमि में पहुँचते ही साधक की निरुद्ध वासना सजग हो उठती है और इधर-उधर अपने आलम्बन को लपकती है। वह भोगोन्मुख हो जाती है और साधक को भाँति-भाँति की ललित लीला दिखाती है। उस समय साधक की चित्तवृत्ति दिव्य भोग की ओर मुड़ पड़ती है जिसे संयम के द्वारा फिर निरोध भूमि पर लाना पड़ता है। आशय यह कि 'व्युत्थान' की लीला है। इससे योगी को बाल-बाल बचना चाहिए। यदि वह ऐसा नहीं करता तो भ्रष्ट हो जायगा और उस पर 'मार' की विजय होगी। वह 'शैतान' के भुलावे में आ जायगा। समझा न ?

मधुमती भूमिका की इस राग-भूमि की साधुता को सिद्ध करने के हेतु एक और भी उपाय रचा गया है। यह पहले कहा जा चुका है कि इसी मधुमती भूमिका में एक विवेकजज्ञान अथवा ऋतम्भरा प्रज्ञा की भी भूमि है। उस भूमि की विशेषता यह है कि उसमें सत्य ही का भरण होता है उसमें असत्य का लेश भी नहीं रहता। मधुवादी उसी पर खड़ा होकर रसभूमि की थाह लगाना चाहता है और 'अशोच्य' को 'शोकातीत' बना देता है। पर यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि राग भूमि वस्तुत: ऋतम्भरा भूमि नहीं 'वितर्क' भूमि है; कारण कि उसमें 'प्रतिपक्षभावना' का उपदेश दिया गया है। अतः, यह प्रतिपक्षभावना ही ऋत है, कुछ रागभावना नहीं। योगसूत्र में इसका स्पष्ट विधान है 'वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावना।' (२—३३) और इसी प्रतिपक्षभावना का आचार इस 'राग' और 'स्मय' में इष्ट है; जिससे यह स्वयं सिद्ध हो जाता है कि निश्चय ही 'राग' और 'स्मय' का ऋतम्भरा प्रज्ञा से कोई सम्बन्ध नहीं। ये तो साधना के 'छिद्र' या अन्तराय ही हैं। इसी को लक्ष्य कर के 'मानस' में 'मन' की बात दिखाने के निमित्त गोस्वामी तुलसीदास ने—

इन्द्री द्वार झरोखा नाना, तहँ तहँ सुर बैठे करि थाना।
आवत देखहिं विषय बयारी, ते हठि देहिं कपाट उघारी॥

आदि लिख दिया था पर रसाळुओं की समझ में यह न आ सका। आता भी कैसे ?

बिनु गुरु होइ कि ज्ञान, ज्ञान कि होइ बिराग बिनु।

खेर, भूलने की बात नहीं कि 'मधुमती' की साधना 'ज्ञात हेय' से आगे नहीं बढती । अर्थात् इस भूमि की साधना से इतना स्फुट हो जाता है कि प्रकृति का सारा सुख हेय है । बस, इससे आगे यह नहीं हो पाता कि साधक 'शोकातीत' या आनन्दमय हो जाय । हाँ, उसे इतना सुख अवश्य मिल जाता है कि वह सृष्टि के प्रवाह से ऊपर उठ आता है और एक पहाड़ पर खड़ा हो जाता जिससे फिर प्रवाह में बह जाने का डर नहीं रह जाता है । वह अक्षोभ्य हो जाता है ।

विचारणीय बात है कि वाचस्पति मिश्र ने भी 'ऋतंभरा प्रज्ञैवमधु' को सिद्ध करने में जो 'कारण' दिया है वह मोद ही है—'मोदकारणत्वात्'। कुछ 'रस' या 'आनन्द' नहीं। कहना न होगा कि मोद' 'आमाद प्रमाद' का ही अग है, 'आनन्द' या 'रस' का नहीं ।

सौभाग्य से योग साधना में 'आनन्द' और 'विशोका' का भी स्थान निश्चित है । 'आनन्द' का उल्लेख तो वितर्क, विचार आनन्द और अस्मिता के साथ होता है पर 'विशोका' का मधुमती मधुप्रतीका विशोका और सस्कारशेषा के साथ । साराश यह कि योग की भूमियों मे मधुमती भूमि कोई ऐसी रसभूमि नहीं कि इसमें कोई 'शोकातीत' हो सके। इसमे ही क्या, मधुप्रतीका म भी तो ऐसा नहीं हो सकता ? फिर मधुमती भूमिका में 'शोकातीत का स्वप्न देखना वाचालता नहीं तो और क्या है ?

'मधुमती भूमिका' की जिस 'राग' भूमि को मधुवादी रस भूमि कहता है वह तो रस भूमि नहीं कवि की विभाव (परकीया) भूमि है । प्रबोधचन्द्रोदय की मधुमती ने कहा भी यही है । यह बताया जा चुका है कि मधु नाम प्रजनन की मूल प्रेरणा अथवा प्रधान द्रव का है, उसका काम ही है सृष्टि कराना । कवि भी तो सृष्टि करता है, फिर इसमें आश्चर्य क्या ?

हाँ, तो मधुवादी का कथन है—

"योगी की पहुँच साधना के बल पर जिस मधुमती भूमिका तक होती है, प्रातिभ ज्ञान सम्पन्न सत्कवि की पहुँच स्वभावत उस भूमिका तक हुआ करती है । साधक और कवि मे अन्तर केवल यही है कि साधक यथेष्ट काल तक मधुमती भूमिका में ठहर सकता है, पर कवि अनिष्ट रजस् या तमस् के

उभर आते ही उससे नीचे उतर पड़ता है। जिस समय कवि का चित्त इस भूमिका में रहता है उस समय उसके मुँह से वह मधुमयी वाणी निकलती है जो अपनी शब्द शक्ति से उसी निर्वितर्क समापत्ति का रूप खड़ा कर देती है जिसकी चर्चा पहले हो चुकी है, यही रसास्वाद की व्यवस्था है, यही रस की 'ब्रह्मास्वादसहोदरता है।" (मेघदूत की भूमिका, वही)

एक साँस में यहाँ इतनी बातें कह दी गयी हैं कि उनमें से प्रत्येक के खंडन में लगना समय और शक्ति को व्यर्थ खोना है, तो भी दो एक के विषय में थोड़े में कुछ निवेदन कर देना है। मधुमती भूमिका की जितनी भूमि को वादी रसभूमि मानता है वह वस्तुतः राग भूमि है जो साधक के सामने छिद्र वा अनिष्ट के रूप में ही आती है। अतः, उसमें यथेष्ट काल तक ठहरे रहने की कोई बात ही नहीं उठती। रही कवि की बात, सो अवश्य ही उक्त 'इन्द्रिय-चोधन' से लाभ उठाता और उस दिव्य भूमि की छवि उतार लेता है और उसे रूप भी ऐसा रम्य दे देता है कि रसिक भी उसमें कुछ काल के लिए रम जाता है। परन्तु वह निर्वितर्क समापत्ति अथवा 'पर प्रत्यक्ष' की ओर नहीं बढ़ता, नहीं वह तो पर प्रत्यक्ष को और भी अपर प्रत्यक्ष कर देता है। वह साधारण को असाधारण अथवा जाति को व्यक्ति बनाकर रख देता है और आलम्बन का नखशिख से सजाकर सबमें अलग खड़ाकर देता है— उसे अनुपम और अद्वितीय बना देता है। कवि का काम है रूप देना, मूर्त विधान करना, कुछ स्थूल का सूक्ष्म और अगोचर करना नहीं।

मधुमत्त कवि की मधुमयी वाणी फूट-फूट कर फैलती और वसुधा को आप्लावित करती है, पर क्या कभी उसके मधु कंठ में भी 'रस' की कोई घूँट पड़ती है? नहीं उसका काम है विश्व का सरस बनाना, उसका काम है रचना, कुछ चखना वा आस्वादन करना नहीं। फिर उसमें रसास्वाद कैसा? यदि रस की कसौटी पर कसो और विभावादि के काँटे से काम लो तो पता चले कि कवि तो सदा विभाव-भूमि में रहता है। अर्थात् वह आश्रय के मुँह से बोलता और सदा उसी का अभिनय करता है। अस्तु, उसके सामने आलम्बन उद्दीपन अर्थात् विभाव ही रहता है, अनुभाव वा संचारी नहीं। अनुभाव और संचारी की सारिका तो सामाजिक के सामने अपना मुँह खोलती

है और फलतः रस का परिपाक भी वहीं होता है। अर्थात् रस का आस्वादन कवि नहीं रसिक या सामाजिक ही करता है। गोस्वामी तुलसीदास ने जहाँ 'शम्भु प्रसाद सुमति हिय हुलसी रामचरितमानस कवि तुलसी' का कविरूप सामने रखा है वहाँ 'उपजहिं अनत अनत छवि लहहीं' में रसिक-रूप भी। निदान मानना पड़ता है कि 'रस' का सम्बन्ध कवि से नहीं प्रत्युत सामाजिक से है—स्रष्टा नहीं द्रष्टा से है।

अभी अभी रस के विषय में जो कुछ कहा गया है उसका तात्पर्य यह नहीं है कि किसी कवि को कभी रस की प्रतीति या अनुभूति होती ही नहीं। नहीं, उसका अर्थ यही है कि कविता करते समय नहीं किंतु उसका आस्वादन करते समय रस की निष्पत्ति होती है। कारण कि उस समय वह भी रसिक या सामाजिक होता है—यह बात और ही है कि अपनी कविता उसे विशेष भाती है। पर यह तो रुचि और संस्कार की बात ठहरी।

'रसास्वाद' का सम्बन्ध कवि नहीं प्रत्युत रसिक या पाठक या श्रोता से है तो उसकी भूमि भी सहृदय या सामाजिक ही है कुछ स्वयं कवि नहीं। कवि तो प्रसाधक' मात्र है। रही ब्रह्मास्वादसहोदरता' की बात तो प्रत्यक्ष ही है कि 'ब्रह्मास्वाद' की भूमि 'मधुमती भूमिका' नहीं। फिर उसके 'सहोदर' की भूमि मधुमती भूमिका किस न्याय से सिद्ध हो सकती है? सीधी सी बात तो यह है कि यदि रस को सचमुच ब्रह्मानन्दसहोदर अथवा रसास्वाद' का 'ब्रह्मास्वाद सहोदर' नहीं सिद्ध कर पाते हो तो ऐसा कहना छोड़ दो। 'सहोदर' का अर्थ 'सादृश्य' करना अपना ही नहीं संस्कृत भारती का उपहास करना है। और यदि पूछते ही हो तो सुनो—

> साहित्यं सालङ्कारं कविना परिकल्पितम्।
> भावयन् रसिको लोके सुखमत्यन्तमश्नुते ॥

जानते हो, कवि तो अलंकारादि परिष्कारों के साथ साहित्य का रचता है और रसिक भावना के द्वारा उसके परम सुख या रस को प्राप्त करता है। 'शब्दार्थयोः परिष्कार, कविस्तु प्रसाधकः" में कवि को प्रसाधक ही कहा गया है और 'सामाजिकः स्यात् रसिकः प्रसिद्धः लोकतः सुखम्' में सामाजिक को ही रसिक कहा गया है। तो क्या किसी रसवादी को यह भी बताना

होगा कि सामाजिक में ही रस की निष्पत्ति संस्कृत मण्डली में भी प्राय मान्य है? माना कि आज का अस्मितावादी नट म रस का आस्वाद बताता है पर उसे अभी तक माना कितने लोगों ने है? हाँ कोई मधुवादी चाहे तो कुछ काल के लिए मधुमती भूमिका के 'स्मय से उसका नाता जोड़कर उसे अपना साथी बना सकता है पर उसका वह प्रकृत मार्ग नहीं। वह तो रसास्वाद का ब्रह्मास्वादसहोदर नहीं मानता। हाँ उसका 'विवर्त' अवश्य मानता है। उसका कहना है—

ब्रह्मास्वाद का सहोदर काव्यास्वाद नहीं प्रत्युत उसका प्रतिबिंब, विवर्त्त, रूपक नकल छाया मात्र है। यह सासारिक रस उस पारमार्थिक रस का आभास है, प्रतिबिंब है। प्रतिबिंब बिंब के सदृश होता हुआ भी उसका उलटा विवर्त्त होता है। मुकुर के आगे मनुष्य खड़ा हो तो प्रतिबिंब में पुरुष का दाहिना अंग बायाँ और बायाँ अंग दाहिना हो जाता है। जल के किनारे खड़ा हो तो प्रतिबिंब में सिर नीचे और पैर ऊपर हो जाता है। इसी से कृत्रिम बनावटी रस के अधिक सेवन में बहुत दोष है। प्रत्यक्ष ही बहुत खेलने से लड़के बिगड़ जाते हैं थोड़ा खेलने से हृष्ट पुष्ट होते हैं। (द्विवेदी अ भि य रस मीमांसा, ना० प्र० सभा काशी)

सारांश यह कि अस्मितावादी 'रस को रस ही समझता है फिर चाहे वह काव्य का रस हो चाहे किसी प्रकार का अन्य (मिष्ठान का) रस। आप इस मत को साधु समझें वा न समझें पर यह एक मत है अवश्य। यह मत काव्यास्वादन का न तो लोकोत्तर कहता है और न ब्रह्मानन्द सहोदर' ही। हम इस मत के विषय में यहाँ मौन रहना ही ठीक समझते हैं और अभी केवल इतना भर बता देना चाहते हैं कि 'रस' अस्मिता में नहीं अस्मिता के अभाव में है। खेल' में जहाँ *अस्मिता' का प्रदर्शन हुआ खेल बिगड़ा।* 'खेल में का काकर गोसैयाँ का उद्घोष इसीलिये तो किया गया है? निदान, हमारा कहना है कि रस सदा रस ही है और वह वहीं है जहाँ स्मय' वा अस्मिता नहीं है।

जो हो कहना हम यह था कि रसिक जिस 'अत्यन्त सुख को भोगता है वस्तुत वह वही सुख है जिसे योगी भोगता है। योगिराज भगवान् कृष्ण का वचन है—

युञ्जन्नेवं सदाऽऽत्मानं योगी विगतकल्मषः।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ॥ ६, २८ ॥

और इस पर लोकमान्य तिलकजी की टीका है—

"इस रीति से निरन्तर अपना योगाभ्यास करनेवाला (कर्म) योगी पापों से छूटकर ब्रह्मसंयोग से प्राप्त होनेवाले अत्यन्त सुख का आनन्द से उपभोग करता है।"

तात्पर्य यह कि जो रसिक के लिए, 'सुखमत्यन्तमश्नुते' कह दिया है, वह कोई सामान्य सुख नहीं है। वह तो सचमुच ब्रह्मानन्दसहोदर ही है। हाँ, दोनों में अन्तर केवल इतना है कि एक नित्य, शाश्वत एवं स्ववश है तो दूसरा अनित्य, अशाश्वत और परवश। अर्थात् योगी के ब्रह्मसुख की समता रसिक का रस सुख केवल इसलिए नहीं कर सकता कि वह प्रौढ़ अपच अपने पैरों पर खड़ा है और यह वत्स दूसरे के आधार पर टिका है। है तो सहोदर अर्थात् उसी भूमि का प्रसव पर प्रौढ़ नहीं चपल है। उसकी समता कर नहीं सकता, उसकी दौड़ में बहुत पीछे छूट जाता है, लड़खड़ा कर कभी गिर भी पड़ता है।

आरम्भ में कहा जा चुका है कि योग 'उपायप्रत्यय' का शासन है और काव्य 'भवप्रत्यय' का प्रसाद। अतः दोनों की मीमांसा भी अलग-अलग होनी चाहिए। योग 'चित्तवृत्ति निरोध' को लेकर चलता है कुछ चित्तवृत्ति-विचार को नहीं। अस्तु, उसे 'भारतीय मनोविज्ञान' कहना भूल है भारत और विज्ञान के नाम को हँसाना है। हाँ, चाहते ही हो तो 'योग' को मनोनियम-विज्ञान कहलो, पर कृपया भूल न जाओ कि मन का क्षेत्र अभी अन्यत्र भी है जानते हो, पतञ्जलि ने 'भवप्रत्यय' को यों ही क्यों छोड़ दिया है? नहीं तो अब उस पर विचार किया जाय और देखा यह जाय कि उसके द्वारा रस की ब्रह्मानन्दसहोदरता कहाँ तक सिद्ध होती है। सो हम देख ही चुके हैं कि 'भवप्रत्यय' की पहुँच सीधे 'असंप्रज्ञात समाधि' तक है। तो अब आपही कहें, इस रस को दूर से झाँकना कहाँ तक ठीक है?

अच्छा, यही सही। उपायप्रत्यय अथवा योगभूमि में ही रसभूमि मानिए, पर कृपया टाँक लीजिए कि 'मधुमती' में नहीं, हाँ, हाँ, 'विशोका' में। कारण कि योगियों के लिए यह अवस्था परीक्षा की दशा होती है। उसे आसक्ति

(संग) और अहंकार (स्मय) को दूर कर देना चाहिए, नहीं तो ये प्रलोभन उसे पदच्युत कर डालने में समर्थ होते हैं। (भारतीय दर्शन, बाबू कृष्णदास गुप्त, ठठेरी बाजार, काशी पृ० ३६७)

यह तो हुई मधुवादी की रसभूमि। अब अस्मिता की इस भूमि का दर्शन कीजिए—

"भूतेन्द्रिय राज्य को अतिक्रमण करके योगी लोग 'अस्मिता' में प्रतिष्ठित होते हैं, तब वे सर्वज्ञ हो जाते हैं और सब भावों में अवस्थान करने की शक्ति प्राप्त कर लेते हैं, जिसे विशोका सिद्धि कहते हैं" (यो० भा० ३। ४८, वही, पृ० ३६८)

काशी विश्वविद्यालय के संस्कृतअध्यापक श्रीबलदेव उपाध्यायजी ने अपने 'भारतीय दर्शन' में योगदर्शन का जो अति संक्षिप्त पर साधु परिचय दिया है उसके उक्त स्थल 'मधुमती' और 'विशोका' की स्थिति को आपही स्पष्ट कर रहे हैं और 'विशोका' स्वयं ही बोल रही है कि 'शोकातीत' की भूमि कहाँ है। याद रहे, रस को 'अतीन्द्रिय' कहा जाता है, और यह भूमि है भी अतीन्द्रिय निदान मानना पड़ता है कि यदि योग की किसी भूमि को रसभूमि, बिना किसी खटके के, कहा जा सकता है तो वह 'विशोका' भूमि ही है, मधुमती-भूमिका कदापि नहीं। 'निर्वितर्क' का चाहे जितना गुणगान किया जाय पर वह कभी 'सवितर्क' के 'अर्थ' का नहीं बदल सकता। सार यह निकला कि मधुमक्षिका के संचित विषयुक्त मधु के पचमेली बल पर मधुमती' को कभी काव्य की रसभूमि नहीं सिद्ध कर सकते हो। अरे! 'मधुपर्क' की दुहाई भी कुछ काम नहीं दे सकती। कारण, याज्ञिक रस के अधिकारी नहीं, मधु के भोक्ता हैं। उन्हें तो रसिक सदा से ही नीरस मानते आ रहे हैं, फिर वे आज कहाँ के रसाचार्य हो गये जो रसमीमांसा में उनका मुँह जोह रहे हो और साहित्य-शास्त्र से सहायता नहीं लेते? अरे, कुछ विवेक से भी तो काम लो और फिर कहो कि वास्तव में मधुमती-भूमिका है क्या और क्या है रस जो उसे मधुमती में ढूँढ रहे हो। कुछ वसन्त की सुधि भी? या हेमन्त में ही ऋतुराज देख रहे हो?

६—सूरदास का अन्तिम पद

'खजन नैन रूप रसमाते' सूरदास का एक अत्यन्त प्रसिद्ध पद है। इसके सम्बन्ध में कहा जाता है कि यह सूरदास का अन्तिम पद है। भक्तों से लेकर हिन्दी साहित्य के अनेक पंडितों ने इस कथन को साधु मान लिया है और बहुतों ने तो इसकी मनमानी व्याख्या कर पाठकों को भ्रम में डाल दिया है। टीकाकारों की टिप्पणियों पर विचार करने की आवश्यकता तो तब पड़ती जब उनमें कुछ सार होता। हमारी धारणा है कि वास्तव में किसी लेखक ने इस पद पर विचार नहीं किया नहीं तो उसको स्पष्ट हो जाता कि इस पद का प्रसंग क्या है और यदि सूरदास ने अंतिम समय इसका गान किया तो उसका रहस्य क्या है? इस पद के सम्बन्ध में हमारा मत है कि यह सूरदास का अंतिम पद नहीं है और इसमें श्रीकृष्ण या सूरदास के नेत्रों का वर्णन नहीं प्रत्युत श्रीराधा के नेत्रों का चित्रण है। इस पद का प्रसंग ही हमारे कथन का पुष्ट प्रमाण है। स्मरण रहे पद का प्रसंग है—

स्यामहि मग्व दै राधिका निजधाम सिधारी।
चितते कहुँ उतरत नहीं श्री कुंज बिहारी॥
रैनि जिनि रतिरस रह्यो मन मनहिं बिचारै।
पिय सँग के अँग चिन्ह ते दपणहि निहारै॥
यहि अंतर चन्द्रावली राधा गृह आई।
अंग सिथिल छवि देखिकै जहँ तहँ भरमाई॥
कह्यो चहति कहत न बनै मन मन अनुमानै।
सूर स्याम सँग निसि बसी निहचै यह जानै॥

पाठकों से हमारा अनुरोध है कि उक्त प्रसंग पर ध्यान रखकर सूरदास के इस पद पर विचार करें और देखें कि इसका अर्थ क्या है। सूरदास कहते हैं—

खंजन नैन सुरंग रसमाते।
अतिसय चारु बिमल दृग चंचल पल पिंजरा न समात॥

बसे कहूँ सोइ बात कही सखि रहे इहाँ केहि नाते।
सोइ सज्ञा देखति औरासी विकल उदास कला ते॥
चलि चलि आवत श्रवण निकट अति सकुचति टक फँदाते।
सूरदास अंजन गुन अटके नतरु कब उड़ि जाते॥

इस पद का शुद्ध पाठ 'रत्नाकर' जी के अनुसार शायद यह है—

खंजन नैन सुरंग रसमाते।
अतिसय चारु विमल चंचल ये पल पिंजरा न समाते॥
बसे कहूँ सोइ बात कही सखि रहे इहाँ किहिं नातें।
सोइ सज्ञा देखति औ राखी विकल उदास कला तैं॥
चलि चलि जात निकट काननि है सकि ताटक फदा तैं।
सूरदास अंजन गुन अँटके नतरु कब उड़ि जाते॥

प्रसंग का अधिक स्पष्ट करने के लिए हम सूरदास जी का एक और पद उद्धृत किये देते हैं। यह पद उक्त पद के बाद ही एक पद छोड़कर, जिसमें श्रीराधा की छवि का वर्णन है, दिया गया। वह पद है—

मोसों कहा दुरावति प्यारी।
नदलाल सँगि रैनि बसी री कोक कला गुन भारी॥
लोचन पलक पीक अधरन को कैसे दुरत दुराये।
मना इन्द्र पर अरुण रहे बसि प्रेम परस्पर भाए॥
अधर दसन छत की अति सोभा उपमा कही न जाइ।
मनो कीर फल बिंब चोंच दै भरयो न गयो उड़ाइ॥
कुच नख-रेख धनुस की आकृत मनु सिव सिर ससि राजै।
सुनत सूर प्रियवचन सखी मुख नागरि हँसि मन लाजै॥

अब तो आप समझ गये होंगे कि सूरदास का 'अन्तिम पद' वास्तवमें अन्तिम पद नहीं है। इस पद म तो राधा के नेत्रों का वर्णन है, 'कृष्ण या सूर' के नेत्रों का नहीं। हाँ, यहाँ राधा 'सुरति-लक्षिता'* के रूप में अंकित की गई है, जो चन्द्रावली से 'सुरति गोपन' कर रही है।

अच्छा, तो उक्त पद को भली भाँति समझने के लिए यह आवश्यक है कि हम इसके रूपक को अलग करलें और इसमें से सखियों के वाद विवाद को अलग। 'खंजन नैन' का सांग रूपक इस प्रकार पद में पूरा होता है—

खंजन नैन सुरँग रसमाते।
अति सय चारु विमल चंचल ये पल पिंजरा न समाते॥

पद में जो 'बसे' और 'ताटक' * पर ध्यान देगा वह स्वत समझ लेगा कि इसका प्रसग क्या है। प्रसंग का स्पष्ट कर हमने यह दिखा देने की चेष्टा की है कि सूरसागर की अधिकांश प्रतियो में जिस प्रसग में यह पद मिलता है वही इसका वास्तविक स्थान है और उसी प्रसग में, उसी अवसर पर इसकी रचना भी हुई है।

यह तो हमने देख लिया कि इस पद का प्रसंग क्या है और यह किसके सम्बन्ध मे और कब कहा गया है। अब हमको थोड़ा इस बात पर भी विचार कर लेना चाहिये कि इस व्यापक भ्रम का कारण क्या है। लोग इसको क्या सूरदास का अन्तिम पद मानते हैं। और यह यदि अन्त समय का पद मान भी लिया जाय तो इसका तात्पर्य क्या है?

हमारी धारणा है कि इस व्यापक भ्रम का मूल कारण 'चौरासी वार्ता' का यह कथन है—

'इतनो कहिकै श्री सूरदासजी के चित्त श्रीठाकुर जी को श्रीमुखता में करुणारस के भरे नेत्र देखे, तब श्री गुसाईं जी पूछा जो सूरदासजी के नेत्र की वृत्ति कहाँ है तब सूरदास जीने एक पद और कह्यो सो पद—'खजन नैन रूप रसमाते'—इतनो कहत ही सूरदासजी ने या शरीर को त्याग कियो सो भगवत्-लीला में प्राप्त भये।"

कहने की आवश्यकता नहीं कि इस कथन में केवल 'पद कह्यो' है।

---

* ताटक शब्द विचारणीय है। 'वार्ता' में केवल साग रूपक दिया गया है। उसमें 'बसे' और 'सखि' शब्द नहीं हैं। पर ताटक वहाँ भी बना है। 'ताटक' स्त्रियों के कान मे पहनने का भूषण विशेष है जिसे तरकी भी कहते हैं। सूरसागर में राधा के ताटक का उसी प्रकार वर्णन है जिस प्रकार श्रीकृष्ण के कुंडल का है। 'वार्ता' में यह पद इस प्रकार दिया गया है—

> 'खजन नैन रूप रस माते।
> अतिसै चारु चपल अनियारे पल पिंजरा न समाते।
> चलि चलि जात निकट श्रवनन के उलट पलट ताटक फँदाते।
> सूरदास अजन गुन अटके नातर अब उड़ि जाते।

रूप रासि सुख रासि राधिका सील महा गुन रासी ।
कृष्ण चरन ते पावहिं स्यामा जे तुव चरन उपासी ॥
जगनायक जगदीस पियारी जगत जननि जगरानी ।
नित बिहार गोपाल लाल सँग वृन्दावन रजधानी ॥
अगतनि को गति भक्तन की पति श्री राधापद मंगलदानी ।
असरन-सरनी भव भय हरनी वेद पुरान बखानी ॥
रसना एक नहीं सत कोटिक सोभा अमित अपारी ।
कृष्ण-भक्ति दीजै श्री राधे सूरदास बलिहारी ॥

सूरदास जी राधा को क्या समझते थे, इसका कुछ पता तो चल गया । अस्तु, जो लोग श्री राधा का जीव समझते हैं उन्हें एक बार अच्छी तरह सूर का अध्ययन कर लेना चाहिए । राधा को सूर श्री कृष्ण की शक्ति समझते थे। यहाँ राधा, श्री कृष्ण एवं गोपियों के सम्बन्ध में विचार करना नहीं है, यहाँ तो यह स्पष्ट करना है कि सूरदास ने राधा की दशा तथा उनके नेत्रों के भाव का स्मरण इसलिए किया कि राधा भी, लीला के लिए ही सही, श्री कृष्ण की चिन्ता में इतनी मग्न थीं कि उनको यदि किसी प्रकार के बन्धन का सामना न करना होता तो वे श्री कृष्ण में समा जातीं । सूर के नेत्र राधा के नेत्रों की उस दशा का अनुभव कर रहे थे जिसमें पड़ कर उन बेचारों को श्री कृष्ण जी का दर्शन दुर्लभ हो गया था और वे उन्हीं के पास उड़ कर जाना चाहते थे । परन्तु लोकलाज के कारण जा नहीं पाते थे । सूरदास के कहने का अर्थ है कि नेत्र तो उड़ कर श्री कृष्ण के रूप में लय हो जाना चाहते हैं पर करें क्या श्री कृष्ण की लीला अपार है । उनकी माया ने जो सृष्टि की है अभी उनके नेत्र उसी 'अजन गुन' में अटके हैं । यदि उन पर श्री कृष्ण की कृपा हो जाती और वे अपनी माया को समेट लेते तो उन्हें कृष्ण का साक्षात्कार हो जाता । उनकी भी ठीक वही दशा है जो सखियों के बीच में राधा के नेत्रों की थी । तात्पर्य यह कि सूरदास अब शीघ्र ही श्री कृष्ण-लोक में जाना चाहते हैं और बीच में किसी अन्य व्यवधान को नहीं देख सकते । राधा का अवतरण इसलिए होता है कि हम उनसे प्रेम करना सीख लें । राधा एक तो सम्मान्य गोपी के रूप में हमारे सामने आती हैं और हम प्रेम करना सिखाती हैं, दूसरे उनका वह रूप

भी बना रहता है जिसका उल्लेख उक्त पद में किया गया है। श्री कृष्ण भी इन्हीं दो रूपों में हमारे सामने आते हैं। सूरदास ने इस पद में श्री कृष्ण के माधुर्य भाव की कामना की है, ऐश्वर्य भाव की नहीं। अवतार लेने का प्रधान कारण धर्म की व्यवस्था और दुष्टों का दलन होता है। यही भक्तों की दृष्टि में प्रभु की प्रभुता है। कहना न होगा कि भगवान् के इस रूप में आनन्द के साथ ही विषाद भी मिला रहता है। अतएव आनन्द के पक्के उपासक इस ऐश्वर्य भाव की उपासना न कर भगवान् के उस भाव की उपासना करते हैं जो दुष्टों की शत्रुभाव की उपासना को भी मान कर उन्हें मुक्त कर देता है और काम भाव के उपासकों को परम कान्त के रूप में मिल जाता है। सूरदास ने श्रीकृष्ण के माधुर्य भाव का चुना और उस रसिक की उपासना की जिसके लिए राधा के नैन परवश होकर ललक रहे थे। निदान हमको कहना पड़ता है कि यदि सूरदास ने अन्तिम समय 'खजन नैन सुरग रसमाते' का गान किया तो उसका अर्थ यह नहीं है कि उन्होंने इसकी रचना भी उसी समय की, प्रत्युत इसका अर्थ यह है कि सूर कृष्ण के दर्शन का तरस रहे थे, किन्तु लोक बन्धन से मुक्त नहीं हो पाते थे। अपने इष्ट पदों को सकट या मौज के समय सभी गाते हैं, फिर सूर तो उसके निर्माता ही ठहरे। किसी को इसमें आपत्ति क्या? हाँ, सूरदास की भक्ति भावना में इस पद का विशेष स्थान है। सूर कोरे वल्लभी ही नहीं, सरस हरिदासी भी तो थे? फिर राधा की 'मुदिति' को भुला कैसे सकते थे? सूरदास का अध्ययन डट कर होना चाहिये। क्या यह हमारे लिये कलंक की बात नहीं कि सूर का कोई अच्छा सस्करण नहीं?

७—मानस के संवादवर

गोस्वामीजी के 'स्वांतःसुखाय' को लेकर अध्यात्म-लोलुपों ने हिंदी-साहित्य में हलचल मचा दी, पर उनकी मुग्ध दृष्टि में इतनी छोटी सी बात न आ सकी कि गोस्वामीजी को दुःख काहे का था। जिन लोगों ने रामचरितमानस का अवगाहन कर लिया है और कागभुसुंडी की कलि-गाथा को भी सुन लिया है वे लोग अच्छी तरह जानते हैं कि गोस्वामीजी को किस बात का दुःख था। गोस्वामीजी ने अनेक स्थलों पर अपने हृद्गत क्षोभ का निदर्शन किया है। कहीं उन्हें इस बात का दुःख है कि—

'गोरख जगायो जोग भगति भगायो लोग'

तो कहीं उन्हें इस बात की चिंता—

साखी सबदी दोहरा कहि किहिनी उपखान।
भगति निरूपहिं भगत कलि निंदहिं वेद पुरान॥

साराश यह कि गोस्वामीजी को इस बात की बड़ी चिंता थी कि उनकी आँखों के सामने ही आर्य-संस्कृति रसातल को चली जा रही थी। वर्णाश्रम धर्म और भारतीय भक्ति की मर्यादा को नष्ट होते देख गोस्वामीजी सिहर उठे। जब उन्होंने देखा कि कृष्ण-भक्त भी एक ऐसे सम प्रेम का प्रचार कर रहे हैं जो वास्तव में मधु और घृत के मिश्रण की भाँति प्राण-घातक है तब उनको कुछ निराशा हुई। पर ज्योंही उनकी दृष्टि धनुष्पाणि राम पर गई त्योंही वे समझ गए कि अब मर्यादा का अवलंबन मिल गया। जब वे राम को लेकर साहित्य-क्षेत्र में अवतरित हुए और जनता को राममय करने चले तब उन्हें पता चला कि उसके बीच तो न जाने किस राम का प्रचार किया जा रहा है और न जाने किस अलख को लखने की व्यवस्था दी जा रही है। गोस्वामीजी व्याकुल हो गए। पर उन्हें महावीर का बल मिला और उन्होंने उस 'मानस' का निर्माण किया जिसके संबंध में उनकी घोषणा है—

"पुण्यं पापहरं सदा शिवकरं विज्ञानभक्तिप्रदं ।
मायामोहमलापहं सुविमलं प्रेमाम्बुपूरं शुभम् ॥
श्रीमद्रामचरित्रमानसमिदं भक्त्यावगाहन्ति ये ।
ते संसारपतङ्गघोरकिरणैर्दह्यन्ति नो मानवाः ॥

गोस्वामीजी को उस भक्ति की फिर से प्रतिष्ठा करना थी जिसे गोरख के योग ने भगा दिया था। योगियों और सूफियों के मत से जो निर्गुण संत मत चल पड़ा था और जिसके कबीरदास प्रवर्तक बन बैठे थे, उसका बहुत कुछ प्रचार हो गया था। रामानुजाचार्य के भक्ति मार्ग का शास्त्रीय स्वरूप सामान्य जनता के सामने न आ सका। रामानन्द आदि के आन्दोलन ने संत मत को प्रोत्साहन दिया। संतों ने रामानन्द के राम को निर्गुण बनाकर अपना लिया। कबीर ने स्पष्ट घोषणा कर दी कि राम को लोग दशरथ का पुत्र कहते हैं, पर राम का मर्म कुछ और है। सूरदास को योगियों और संतों की यह धाँधली खली। उन्होंने स्वामी वल्लभाचार्य की सगुण तथा साकार भक्ति का पक्ष लिया और के सामने राधा-कृष्ण की प्रेम लीला को रख दिया। सूरदास ने भक्ति की जिस भावना को पसंद किया उसमें लोक-मर्यादा का कोई विचार न था। लोक-मर्यादा से उसका कुछ विशेष संबंध न था। गोलोक की नित्य लीला उनके सामने थी। यदि कोई उनके सामने योग, निर्गुण ब्रह्म आदि का नाम न लेता तो वे भ्रमर गीत की ऐसी सरस योजना न करते। उद्धव का जो रूप भ्रमर गीत में दिखाई देता है वह भागवत के उद्धव का रूप नहीं है। वह तो उन ज्ञानियों का रूप है जो बात बात में ब्रह्म, निर्गुण और ज्ञान का नाम लेते हैं और इस बात पर तनिक भी नहीं करते कि वह कहाँ तक हृदयग्राही अथवा युवतियों के उपयुक्त है। भ्रमरगीत में सूर ने साकार भक्ति का निरूपण किया, पर उनका प्रयत्न अधूरा और काव्य प्रधान रह गया है। गोपियों ने उद्धव का सामना डटकर नहीं किया। भ्रमर की आड़ लेकर उन्होंने निर्गुण ब्रह्म ज्ञान का परिहास किया। उन्होंने यह नहीं कहा कि निर्गुण मनुष्य के लिये कठिन और दुर्लभ है। उन्होंने तो इस बात पर अधिक

किया कि स्त्रियों के लिए योग या निर्गुण उचित नहीं है। उनके लिए साकार सौंदर्य अपेक्षित है। कहने का तात्पर्य यह कि सूरदास ने भक्ति का निरूपण खुलकर नहीं किया, अधिक से अधिक उन्होंने यही किया कि नंददास और गोस्वामीजी के लिए एक मार्ग निर्धारित कर जनता को कृष्ण की ओर खींच लिया। नंददास ने भ्रमर-गीत में गोपियों का उद्धव से भिड़ा दिया। उनमें एक प्रकार से शास्त्रार्थ छिड़ गया। पर उनका भी प्रयत्न ब्रज ही तक सीमित रह गया और वे भी सूफियों और संतों का सामना न कर सके। गोस्वामी तुलसीदास कट्टर मर्यादावादी थे। उन्हें अनधिकार चेष्टा से चिढ़ थी। उन्होंने देखा कि यदि संतों और सूफियों के प्रचार पर वज्रपात नहीं किया जाता तो प्रेम और योग के धोखे में हिंदू जनता अपने स्वरूप और अपनी संस्कृति को भुलाकर, एक ऐसे मार्ग को ग्रहण कर लेगी जिसका लक्ष्य अनिष्ट है। निदान उनको विवश होकर चित्त की शांति के लिए उस रामचरित-मानस का निर्माण करना पड़ा जिसके संवादों के संबंध में आज हम कुछ विचार कर रहे हैं और जो न जाने कितने हृदयों का प्राणाधार और जीवन का एकमात्र स्रोत है। रामचरित मानस हिंदू-जाति का प्राण और जीवन है। उसके संवादों को समझ लेने से आपको अवगत हो जायगा कि हम क्या इसे अमृत के रूप में ग्रहण करते हैं और सूखे निर्गुण की उपेक्षा कर देते हैं।

गोरख और कबीर के चेलों ने पठित समाज से भक्ति को नहीं भगाया था। पंडितों और मनीषियों के सामने इन निरक्षराचार्यों की कुछ नहीं चलती थी। गोस्वामी तुलसीदास के 'राम नाम जपु नीच' में इसी बात की व्यंजना हुई है, पर अपठित जनता के तो ये तारक बन चले थे और नाना प्रकार की बातें कर जनता के हृदय से राम के दिव्य स्वरूप को खदेड़कर 'सीस' में न जाने किस पुरुष को झलकाते थे। गोस्वामीजी ने देखा कि अपठित समाज के सामने कोरी वेदांतचर्चा व्यर्थ है। आचार्यों का शास्त्रीय भक्ति-निरूपण ही उसके किसी काम में नहीं आ सकता। उसके हृदय की शान्ति के लिए उस परम हृदय की आवश्यकता है जिसे सब कोई आदर्श रूप में जानते और जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उसे अपना अगुआ समझते हैं।

कहने की आवश्यकता नहीं कि सभी बातें रामचरित में थीं। रामचरित को लेकर अध्यात्म का सर्जन हो चुका था। अध्यात्म रामायण भी बन चुका था, आवश्यकता केवल एक ऐसे 'मानस' की थी जिसमें सभी स्रोतोंका रस हो और जो मृतक हिंदू-जाति में भक्ति-रस का संचार कर सके। गोस्वामीजी ने उसी रस को भाषाबद्ध किया और हिंदू जाति को मरने से बचा लिया।

रामचरित-मानस के सांग-रूपक में गोस्वामीजी ने इस बात को स्पष्ट कर दिया है कि उनके मानस में मज्जन करने के लिये इन संवाद-रूपी घाटों से जाना अत्यंत आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी है। वे कहते हैं—

"सुठि सुंदर संवाद वर विरचे बुद्धि बिचारि।
तेइ एहि पावन सुभग सर घाट मनोहर चारि॥"

इन संवादों को गोस्वामीजी एक ओर तो 'सुठि' और 'सुंदर' कहते हैं और दूसरी ओर उन्हें 'बुद्धि' और 'विचार' का परिणाम बताते हैं। गोस्वामीजी को इन संवादों की नवीन उद्भावना नहीं करनी थी। आर्यों के प्राचीनतम ग्रंथ ऋग्वेद में भी अनेक संवाद पाए जाते हैं। उपनिषदों में संवादों की कमी नहीं। उन्हीं के आधार पर उनमें किसी तत्त्व की व्याख्या की गई है। पुराण तो संवाद के रूप में लिखे ही गए हैं। उनके वक्ता और श्रोता प्रसिद्ध व्यक्ति हैं। गीता में भी संवाद की पूरी प्रतिष्ठा है और इसी रूप में उसमें ब्रह्मविद्या का व्याख्यान किया गया है। सारांश यह कि स्वतः संवादों में कोई ऐसी बात नहीं कि गोस्वामीजी उन्हें अपनी बुद्धि और अपने विचार का परिणाम कहें। उनके समय में भी लोग संवादों की परंपरा से भली भाँति परिचित थे और यह अच्छी तरह जानते थे कि संवादों की उपयोगिता क्या है। फिर भी गोस्वामीजी ने यह दावा किया है कि हमने बुद्धि और विचार के साथ इन संवादों की रचना की। गोस्वामीजी के इस आग्रह को देखकर यह मानना पड़ता है कि 'मानस' के इन संवादों में परंपरागत संवादों से कुछ विशेषता अवश्य है।

सो बात यह है कि गोस्वामीजी भक्ति का निरूपण करना चाहते थे और इस प्रकार करना चाहते थे कि उससे 'सुरसरि सम सब कर हित होई'। निरूपण अथवा किसी सत्य की प्रतिष्ठा के लिये यह आवश्यक होता है कि

विरोधी के पक्ष को भी रख दिया जाय। विपक्ष की बातो को अच्छी तरह सुनकर जब उनका खंडन किया जाता है तभी उत्तर पक्ष हमारे हृदय में स्थान पाता है और हम अनायास उसे अपना लेते हैं। यदि विचार से देखा जाय तो पूर्वपक्ष का उचित प्रसार संवाद ही में होता है। यही कारण कि यूनान तथा भारत के अनेक दार्शनिक पंडितों ने सवाद के रूप में अपने मत का प्रकाशन किया है। इस दृष्टि से देखने से स्पष्ट होता है कि गोस्वामीजी ने सवादों पर अधिक बल इसीलिये दिया है कि हम उनके प्रकाश में पूर्वपक्ष की निर्बलता देख लें। पर तर्क के क्षेत्र में पहुँचकर गोस्वामी जी भक्ति का शास्त्रीय निरूपण करना जनता के लिये लाभप्रद नहीं समझते। हमारी समझ में गोस्वामीजी ने यह बहुत अच्छा किया कि कबीर आदि सतो का समाधान पाँच पचीस के ब्योरे और पहेलियों में न कर प्रत्यक्ष रामचरित के आधार पर किया और स्थान-स्थान पर अपने अध्यात्म का आभास भी दे दिया। गोस्वामीजी को यदि शुद्ध अध्यात्म का पक्ष लेना होता तो वे याज्ञवल्क्य को अपना रूप दे देते और उनके द्वारा अपने अध्यात्म का प्रतिपादन कर लेते। पर उन्होंने ऐसा नहीं किया। रामचरित मानस में याज्ञवल्क्य यद्यपि वही चिरपरिचित उपनिषदों के ज्ञानी याज्ञवल्क्य हैं तथापि वे यहाँ ज्ञान-काँड का प्रतिपादन नहीं करते। प्रत्युत उनको भी रामचरित ही प्रिय लगता है। उनसे भी गोस्वामीजी ने भक्ति का निरूपण करा लिया है और ज्ञानियों के सामने यह प्रत्यक्ष कर दिया है कि ज्ञान तभी सफल हो सकता है जब उसका पर्यवसान भक्ति में हो।

ज्ञान, कर्म और भक्ति आदि के सापेक्ष रूप से अनभिज्ञ रहने के कारण कतिपय पंडितों का दावा है कि रामचरित-मानस में ज्ञान, कर्म, भक्ति एवं दैन्य के प्रतिपादन के लिये चार सवादो की रचना की गई है। इस मत का खंडन हम अन्यत्र कर चुके हैं। प्रसग-वश यहाँ इतना कह देना है कि रामचरित मानस में ज्ञान कर्म-व्यवस्थित भक्ति का निरूपण है, कोरी भक्ति या अन्य काडो का नहीं। रही दैन्य की बात। उसके विषय में हमारा कहना है कि प्रणिपात या प्रपत्ति कोई स्वतंत्र मार्ग अथवा काड नहीं है। उसे तो हम भक्ति की एक हद सीढ़ी समझते हैं। फिर उसे भक्ति से अलग एक स्वतंत्र

मार्ग किस प्रकार मान सकते हैं ? इतने पर भी दैन्य म जिन्हे विशेष प्रेम हो उन्हें गोस्वामीजी की विनय पत्रिका पढ़नी चाहिए। राम के सामने गोस्वामीजी दीन हैं, कुछ रामचरित की स्थापना करते समय नहीं। रामचरित मानस में तो तुलसीदास इतने समृद्ध और बलशाली हैं कि उनका इन्द्र भी श्वान की भाँति तुच्छ दिखाई देता है। फिर रामचरित मानस म दैन्य कैसा ?

गोस्वामीजी ने रामचरित मानस में अपने प्रतिपाद्य विषय को इतना स्पष्ट रखा है कि उसके संबंध म तर्क वितर्क करने की आवश्यकता नहीं। मानस के सांग रूपक म ही उन्होंने साफ कह दिया है कि 'भगति-निरूपन विविध विधाना' ही उनका इष्ट है। 'मानस' के अन्त म तो गोस्वामीजी ने घोषणा कर दी है कि अपना प्रतिपाद्य विषय क्या है और मानस के सत-सोपानों का उससे संबंध क्या है। शंकरजी पार्वती से कहते हैं कि इस राम कथा में जो सप्त सोपान हैं वे राम भक्ति के मार्ग हैं। 'इहि महँ रुचिर सत-सोपाना रघुपति भगति केर पथाना' से स्पष्ट है कि रामचरित-मानस म तरह तरह से भक्ति का ही प्रतिपादन किया गया है ज्ञान या कर्म का कदापि नहीं। गोस्वामीजी ने मानस म किस प्रकार भक्ति का निरूपण किया है इसका विवेचन हम अन्यत्र करेंगे। प्रसंगवश यहाँ इतना दिखा देना चाहते हैं कि रामचरित मानस के प्रथम और द्वितीय सोपान तो राम भक्ति की भूमिका मात्र हैं। वास्तव म भक्ति का निरूपण तृतीय सोपान अथवा अरण्यकांड से होता है। मानस' के सोपानों का कांड कहने की आवश्यकता इसलिये पड़ी कि लोगों में कांड ही प्रसिद्ध हैं और कितने संपादकों ने तो प्रमाद वश उनका कांड लिख भी दिया है। परन्तु गोस्वामीजी का कांड इष्ट न था। इसीलिये उन्होंने मानस में अवगाहन करने के लिये 'सोपान' की कल्पना की। 'मानस' के भक्ति रस में निमज्जन करने के लिये जिन सोपानों को पार करना है उनका उल्लेख गोस्वामीजी ने इस प्रकार किया है कि उनका अध्ययन करने से इस बात में रत्ती भी संदेह नहीं रह जाता कि रामचरित-मानस में नाना रूपों म केवल भक्ति का निरूपण किया गया है। ज्ञान, कर्म अथवा दैन्य का स्वतन्त्र विधान उसमें नहीं। वे तो भक्ति के अंग अथवा सहायक के रूप में आए हैं।

हम कह चुके हैं कि मानस के प्रथम और द्वितीय सोपान रामचरित में हमारी रुचि उत्पन्न करते हैं। भक्ति भावना की दृष्टि से इनकी उपयोगिता यह है कि हम राम के शील, सौंदर्य और शक्ति का अच्छी तरह देख लें। जब उनके गुणों को देखकर उन पर हमारी श्रद्धा हो जायगी तब हम उनकी भक्ति को पसंद करेंगे और स्वतः उनकी ओर उन्मुख होंगे। यही कारण है कि प्रथम और द्वितीय सोपान का नामकरण किसी भाव-विशेष के आधार पर नहीं किया गया है। रामचरित-मानस के पाठकों को इस बात का पता होगा कि विश्वामित्र के अयोध्या-गमन से लेकर भरत के नंदिग्राम में तपानत लेने तक की कथा में कहीं भी इस बात का उल्लेख नहीं है कि राम कथा के वक्ता शिव, याज्ञवल्क्य और कागभुसुंडि भी हैं। भरद्वाज, पार्वती और गरुड़ को इस कथा में शायद कोई आपत्ति न थी। बाल के अंत और अयोध्या के पूरे कांड में उक्त संवादों का अभाव कुछ महत्त्व रखता है। राम के जन्म के प्रथम की कथा रामचरित-मानस की भूमिका है और जन्म से लेकर चित्रकूट तक की कथा राम-भक्ति की। इस भूमिका में भी गोस्वामीजी इस बात का भुलाना नहीं चाहते कि राम का वास्तविक स्वरूप क्या है। इस भूमिका की विशेषता यह है कि इसमें 'मानस' के पात्रों द्वारा इस बात की पुष्टि की गई है कि राम पर-ब्रह्म हैं, एक सामान्य राजकुमार नहीं। राम और सीता के विवाह का देखकर जब सुरों को आश्चर्य हो जाता है और वे विभ्रम में पड़ जाते हैं तब शंकरजी उन्हें समझा देते हैं कि राम और सीता सामान्य जीव नहीं हैं। शिवजी ने इस अवसर पर पार्वतीजी से कुछ भी नहीं कहा। अस्तु, समूचे प्रसंग पर ध्यान देने से अवगत हो जाता है कि प्रकृति प्रसंगों में अन्य संवादों की उपेक्षा जानबूझकर की गई है। गोस्वामीजी का इष्ट न था कि विवाह और वन गमन के प्रसंगों में भी भरद्वाज, पार्वती और गरुड़ का उल्लेख किया जाय। निदान 'मानस' के इतने अंश को गोस्वामीजी ने राम-भक्ति की भूमिका के रूप में रखा और पाठकों को दिखा दिया कि जिस राम के संबंध में 'मानस' में संवाद छिड़े हैं उसके साथ हमारे हृदय का क्या संबंध है।

राम के शील, शक्ति और सौंदर्य को जब हमारे हृदय में जगह मिल जाती है तब हम देखते हैं कि मानस में राम की नरलीला आरंभ होती है। पाठकों

को स्मरण होगा कि मानस में प्रसिद्ध और सर्वप्रधान श्रोतृ सती को राम के इसी रूप को देखकर मोह हुआ था। उनके संदेह का प्रधान कारण था—

"खोजै सो कि अग्य इव नारी, ग्यान-धाम श्रीपति असुरारी।"

तात्पर्य यह कि वस्तुतः दंडक वन अथवा तृतीय सोपान में ही गोस्वामीजी का वास्तविक भक्ति-निरूपण आरंभ होता है। यहीं से गोस्वामीजी श्रोताओं और पाठकों को सचेत कर देते हैं कि अब राम का गूढ गुण सामने आ रहा है। देखिये न शंकरजी ने पार्वती को सावधान किया—

'उमा राम-गुन गूढ, पंडित मुनि पावहिं बिरति।
पावहिं मोह बिमूढ, जे हरि बिमुख, न धरम रति॥"

श्रोताओं के हृदय में राम के प्रति सहानुभूति है। प्रथम और द्वितीय सोपान में हृदय को राम की ओर उन्मुख कर दिया गया है। अतएव तृतीय सोपान में उन्हें मोह नहीं मिल सकता। निदान, गोस्वामीजी ने तृतीय सोपान की पुष्पिका में उसका नामकरण इस प्रकार किया—"इति श्रीरामचरितमानसे सकलकलिकलुषविध्वंसने विमलवैराग्यसम्पादनो नाम तृतीय. सोपानः समाप्त"। सारांश यह कि तृतीय सोपान में विमल वैराग्य का संपादन किया गया है। इसके अनंतर चतुर्थ, पंचम, षष्ठ और सप्तम सोपानों में क्रमशः विशुद्ध संतोष, 'ज्ञान,' 'विमल विज्ञान' एवं 'अविरल हरिभक्ति' का संपादन किया गया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि मानस का प्रत्येक सोपान हमें हरिभक्ति की ओर अग्रसर कर रहा है और सब का समाहार उसी भक्ति में हो जाता है। अस्तु, हमें कहना पड़ता है कि रामचरितमानस के प्रत्येक संवाद में इसी भक्ति का निदर्शन हो रहा है, किसी ज्ञान अथवा कर्मकांड का नहीं। 'सकलकलिकलुष विध्वंसन' का आरंभ तो प्रथम सोपान में ही हो जाता है, किंतु भक्ति का आरंभ तृतीय सोपान से होता है। इसलिये वहीं से सोपानों का नामकरण मिलता है और लगातार सप्तम सोपान तक चला जाता है।

यह तो सिद्ध हो गया कि रामचरित-मानस के प्रत्येक संवाद में भक्ति का निरूपण किया गया है और उसी में ज्ञान का भी समावेश हो गया है। पर अभी तक इस बात का विचार नहीं किया गया कि इन संवादों की विशेषता क्या है। क्यों रामचरितमानस में चार संवादों की योजना की गई? इस

प्रश्न पर विचार करने के पहले ही यह जान लेना आवश्यक प्रतीत होता है कि इन संवादों की अलग अलग उद्भावना का कारण कहीं इनकी राम कथा की भिन्नता तो नहीं है! कहीं यह दिखाने के लिये तो गोस्वामीजीने अनेक संवादों की कल्पना नहीं कर ली कि 'हरि अनंत हरिकथा अनंता'। यद्यपि अनेक स्थलों पर गोस्वामी ने इस बात पर जोर दिया है कि राम की कथा अनंत है तथापि यह नहीं कहा जा सकता कि रामचरित मानस की कथा भी अनंत है। राम की अनंत कथा का कारण कल्पभेद है, मर्याद-भेद नहीं। गोस्वामीजीने इस विषय को इस प्रकार स्पष्ट किया है कि उसमें किसी प्रकार का अन्यथा भाव हो ही नहीं सकता। उनका कथन है—

'राम कथा कै मिति जग नाहीं, असि प्रतीति तिन्हके मन माहीं।
नाना भाँति राम अवतारा, रामायन सतकोटि अपारा॥
कल्प भेद हरिचरित सोहाए, भाँति अनेक मुनीसन्ह गाए।
करिय न संसय अस उर आनी, सुनिय कथा सादर रति मानी॥"

गोस्वामीजी को यह भूमिका इसलिये बाँधनी पड़ी कि उनके रामचरित-मानस की कथा को सुनकर लोग विचलित और चकित न हो जायँ। जब उन्हें राम कथा को एक विशेष रूप देना था, 'कथा प्रबंध विचित्र बनाई' और राम गुण-गान करना था, तब उनके लिये यह आवश्यक था कि जनता के हृदय में यह भाव भर दें कि राम कथा की कोई सीमा नहीं है। यदि कहीं राम कथा की प्रबंध धारा में कुछ विचित्रता आ जाय तो उसे देखकर आश्चर्यमें नहीं पड़ना चाहिए, बल्कि इस बात पर विचार करना चाहिए कि उस विचित्रता का कारण क्या है। क्या राम ने इस प्रकार की लीला की और भक्तों ने क्यों उसे इस प्रकार का विलक्षण रूप दे दिया? निष्कर्ष यह कि रामचरित-मानस की प्रबंध धारा की दृष्टि से गोस्वामीजी ने अनंत हरि-कथा का नाम लिया है, कुछ संवादों की अलग अलग विशेषता दिखाने के लिये नहीं। प्रत्येक संवाद में एक ही रामचरित-मानस की कथा चल रही है। इसका एक दृढ़ प्रमाण यह भी है कि गोस्वामी ने स्वयं इसकी साम्प्रदायिक परंपरा का उल्लेख करते हुए कहा कि स्वयं शंकरजी ने इस रामचरितमानस की रचना की और उन्हीं के प्रसाद से यह दुर्लभ कथा कागभुसुंडि और याज्ञवल्क्य को मिली।

गोस्वामीजी को भी इसी की प्राप्ति उनके गुरु से हुई थी और उन्होंने इसी को अपनी बुद्धि तथा विवेक के अनुसार रचकर भाषा में प्रकाशित किया। आशय यह कि रामचरित मानस का कथा प्रबंध प्रत्येक संवाद में एक ही है। अथवा यो कहिए कि एक ही रामचरित मानस की कथा प्रत्येक संवाद में चल रही है। यह ठीक है कि याज्ञवल्क्य और भरद्वाज का स्पष्ट उल्लेख केवल प्रथम सोपान में है, और कागभुसुंडि तथा गरुड़ का उल्लेख तृतीय सोपान से आरंभ हो अंत में समाप्त होता है। यह उससे भी अधिक सत्य है कि शिव पार्वती का प्रसंग राम-विवाह और राम-वनगमन में नहीं आता। पर इतने ही से यह सिद्ध नहीं हो सकता कि संवादों की इस भिन्नता का कारण कथा प्रबंध की भिन्नता है। याज्ञवल्क्य ने भरद्वाज से पहले शिव-चरित कहा, फिर उन्होंने शिव-पार्वती के संवाद को छेड़ दिया। शिव-पार्वती के संवाद में कागभुसुंडि और गरुड़ का प्रसंग आ गया। शंकर ने आरंभ में ही कह दिया—

> "सुनु सुभ कथा भवानि, रामचरित मानस विमल।
> कहा भुसुंडि बखानि, सुना विहँग नायक गरुड़।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि संवादों की कथा में यदि कुछ अंतर है तो वह राम कथा के संबंध में नहीं, बल्कि संवादों के अवतरण अथवा उनके तथ्य परिचय में। शंकर ने पार्वती से स्पष्ट कह दिया कि उन्होंने जो कथा पार्वती से कही उसी कथा को कागभुसुंडि ने भी गरुड़ से कहा। उनका कथन है—

"कथा समस्त भुसुंडि बखानी जो मैं तुम्हसन कही भवानी"।

निदान हमको दृढ़ता के साथ कहना पड़ता है कि संवादों की भिन्नता का कारण कथा-प्रबंध नहीं है। कारण, प्रत्येक संवाद बराबर चलते रहे हैं। इसका प्रबल और अकाट्य प्रमाण यह है कि 'मानस' के अंत में प्रत्येक संवाद का उपसंहार किया गया है।

गोस्वामीजीने संवादों का उपसंहार निर्दिष्ट रूप में किया है। यद्यपि मानस में इन उपसंहारों का स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता तथापि मनन करने से अवगत हो जाता है कि रामचरित-मानस में संवादों का उपसंहार भी उसी क्रम से किया गया है जिस क्रम से उनका उपक्रम। रामचरित मानस में याज्ञवल्क्य और

भरद्वाज का संवाद प्रथम आता है और पश्चात् उसका अवसान भी अंत में होता है। कागभुसुंडि और गरुड़ का संवाद अंत में आता है और उसका अंत पहले हो जाता है। रही गोस्वामीजी के संवाद की बात। उसके संबंध में निवेदन है कि रामचरित के अथ से इति तक उसका प्रसार है। गोस्वामीजी के संवाद पर कुछ विचार करने के प्रथम ही यह देख लेना है कि अन्य संवादों का पर्यवसान किस प्रकार हुआ है। श्रोताओं पर रामचरित मानस का क्या प्रभाव पड़ा है। सर्वप्रथम गरुड़जी को लीजिए। उन्होंने कागभुसुंडि से कहा—

"मैं कृतकृत्य भएउँ तव बानी, सुनि रघुबीर-भगति-रस-सानी।
रामचरन नूतन रति भई, मायाजनित बिपति सब गई।
+ + +
जीवन जनम सुफल मम भएऊ, तव प्रसाद संसय सब गएऊ।
जानेहु सदा मोहि निज किंकर, पुनि पुनि उमा कहै बिहगबर॥"

तात्पर्य यह कि इस कथा का प्रभाव गरुड़जी पर यह पड़ा कि उनके संशय का नाश हो गया और राम-चरण में नवीन रति उत्पन्न हो गई। अब यह देखना चाहिए कि उमा पर इस कथा का कैसा रंग चढ़ा। गिरिजा ने शंकरजी से स्पष्ट कहा—

"नाथ कृपा मम गत संदेहा, राम-चरन उपजेउ नव नेहा।
मैं कृतकृत्य भइउँ अब, तव प्रसाद बिस्वेस।
राम भगति दृढ़ उपजी, बीते सकल कलेस॥"

भरद्वाज पर इस कथा का कुछ प्रभाव पड़ा अथवा नहीं यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। वास्तव में याज्ञवल्क्य और भरद्वाज का संवाद उक्त दोनों संवादों से भिन्न है। अतएव यदि भरद्वाज का यह रूप नहीं दिखाई देता जो गरुड़ या पार्वती का दिखाई दे रहा है तो इसमें आश्चर्य क्या! वे मोह में पड़े ही कब थे?

संवादों की अलग अलग विशेषताओं पर विचार करने के पूर्व ही कुछ यह भी देख लेना चाहिए कि गोस्वामीजी का कोई स्वतंत्र संवाद कहा जा सकता है अथवा नहीं। सो इसमें तो किसी भी मनीषी को कोई आपत्ति न होगी कि स्वतः गोस्वामीजी ने चार संवादों की योजना की है और उनका चार

श्रोतों का रूप देते हुए उन्हें बुद्धि और विवेक का परिणाम कहा है। अस्तु हम देखते हैं कि गोस्वामीजी का अभीष्ट, चौथा संवाद, स्वत. उनके संवाद के अतिरिक्त और कोई अन्य संवाद हो नहीं सकता। प्रश्न उठ सकता है कि इस संवाद का वक्ता कौन है, और यह किसे रामचरित मानस सुना रहा है। श्रोताओं के संबंध में गोस्वामीजी ने मानस की भूमिका में कहा है कि श्रोता त्रिविध' हैं, पर कहीं इस बात का निर्देश नहीं किया कि उनके त्रिविध श्रोता' का प्रयोजन क्या है। हमारी धारणा है कि इन श्रोताओं को मानस में जो रूप दिया गया है वह त्रिविध है। इस त्रिविध के अंतर्गत भरद्वाज पार्वती और गरुड़ हैं। मानस का चतुर्थ श्रोता तो इन सबसे अलग है। जब हम चतुर्थ संवाद का वक्ता स्वयं गोस्वामीजी को मान लेते हैं और उनके स्वांत सुखाय' पर ध्यान देते हैं तब हमारे हृदय में स्वत यह भावना उठती है कि हो न हो मानस का चतुर्थ श्रोता गोस्वामी जी का मन है। मन रामचरित मानस को सुनने के लिये तत्पर नहीं है। वह नाना प्रकार के योग-भोग में मग्न है और हेतुवाद या तर्क वितर्क के आधार पर अनेक पंथों की कल्पना कर रहा है। गोस्वामीजी इसी को समझा रहे हैं और बार बार उससे आग्रह करते हैं कि तू उस राम का क्यों नहीं भजता जिसकी कथा भरद्वाज पार्वती और गरुड़ जैसे व्यक्ति कितने मनोयोग और श्रम के साथ सुन रहे हैं। गोस्वामीजी ने समाज और जाति को अपना श्रोता नहीं बनाया। सीधे-सादे ढंग से उन्होंने अपने मन को कोसा और उसे सुझा दिया कि राम कथा से स्वार्थ तथा परमार्थ दोनों ही बन जाते हैं। गोस्वामीजी ने जनता से इस बात का दुराग्रह नहीं किया कि उनके पास समस्त का परवाना है और वे अन्य' की प्रेरणा से उसका संदेश सुना रहे हैं। नहीं, उन्होंने अधिकारी भक्तों से यही कहा कि रामचरित मानस के अवगाहन से भव-बंधन अथवा त्रयताप नहीं रह जाता। मन के सामने उन्होंने उस आलंबन का रूप दिया जिसमें अनंत शील अनंत शक्ति और अनंत सौंदर्य है। उस रामचरित को दिखाकर जिसमें भगवान् की भक्त-वत्सलता का निरूपण किया गया है, गोस्वामीजी ने व्यक्ति क्या, जाति के मन को दिखा दिया कि उसका मंगल इसी में है कि वह रामचरित-मानस का अवगाहन अथवा राम का गुण

गान करे। अस्तु, हमको मानना पड़ता है कि गोस्वामीजी का श्रोता उनका मन है और वे उसी से दृढता के साथ कह रहे हैं कि—

'पाई न गति केहि पतित-पावन राम भजु सुनु सठ मना।"

अच्छा, तो इसी को गोस्वामीजी के संवाद का उपसंहार समझना चाहिए। कारण कि इसी से उसका आरंभ हुआ था।

हाँ, रामचरित मानस के संवादों के संबंध में अब तक जो कुछ कहा गया उससे न तो उनके रहस्य का अच्छी तरह उद्घाटन हो सका और न उनकी अलग अलग विशेषताओं का भली भाँति प्रकाशन। अस्तु हमें अब कुछ इस बात का प्रयत्न करना चाहिए कि इन संवादों का मर्म ठीक ठीक हमारी समझ में आ जाय। तो यह तो हमने देख ही लिया है कि रामचरित-मानस की रचना भक्ति निरूपण के लिये हुई है। परंतु यह बात अभी तक स्पष्ट न हो सकी कि गोस्वामीजी को भक्ति निरूपण की आवश्यकता क्यों पड़ी, और उन्होंने किस राम की भक्ति का निरूपण किया। बात यह है कि कबीर आदि संतो को खंडन करने की बुरी लत पड़ गई थी। किसी तथ्य के स्वरूप से अपरिचित होते हुए भी स्वयंभू संत निर्गुण और योग की ओट में जिस अलख की झलक दिखा रहे थे उसकी मीमांसा की आवश्यकता उन्हें नहीं पड़ती थी। उनका काम इतने ही से चल जाता था कि जनता के सामने कुछ चमत्कार दिखाकर, कुछ पहेलियों के आधार पर पंडितो को ललकार दें और वेद पुराण की निंदा कर अपने पांडित्य का प्रदर्शन करें। उनका मन यहाँ तक बढ गया था कि वे अपने सामने किसी को कुछ समझते ही नहीं थे, और कुछ न जानते हुए भी यही चिल्लाया करते थे कि--

'दशरथ सुत तिहुँ लोक बखाना, रामनाम को मरम है आना'।

इन भलेमानुसों का ध्यान कभी इस बात पर नहीं जाता था कि उस 'आनामर्म' से भक्ति का क्या संबंध है और हम उसे क्या राम के रूप में ही प्रतिपादित करना चाहते हैं। अतएव गोस्वामीजी के लिये यह अनिवार्य हो गया कि वे एक व्यवस्थित रूप में इस 'आना' के काने ज्ञान का दूसरी भी आँख दे दें और जनता को स्पष्ट दिखा दें कि राम का प्रसार भीतर से कहीं अधिक बाहर है। राम दशरथ का सुत भी है, विष्णु भी है और है परब्रह्म का

साक्षात् स्वरूप भी। राम को निर्गुण समझ लेना आसान है। इसके लिये विशेष प्रतिभा अपेक्षित नहीं होती। जानना तो सगुण का कठिन है। सगुण को किसी प्रकार यदि समझ भी लिया जाय तो इस सृष्टि प्रसार अथवा नाना चरित के लिये क्या कहा जाय जिसे सुनकर मुनिजन भी भ्रम में पड़ जाते हैं। निदान गोस्वामीजी ने दावे के साथ कहा—

निर्गुन रूप सुलभ अति, सगुन न जानहिं कोइ।
सुगम अगम नाना चरित सुनि मुनि मन भ्रम होइ।'

गोस्वामीजी ने इसी 'मुनि मन भ्रम' करनेवाले चरित को चुना और रामचरित मानस में उसी भ्रम का निवारण किया। और शंकर ने गरुड़ से स्पष्ट कह दिया कि संशय का नाश किसी छूमंतर से नहीं हो सकता। इसके लिये तो सत्संग है—

'तबहिं होइ सब संसय भंगा, जब बहु काल करिअ सतसंगा।
मुनिअ तहाँ हरिकथा सुहाई नाना भाँति मुनिन जो गाई।
जेहि महँ आदि मध्य अवसाना, प्रभु प्रतिपाद्य रामु भगवाना।
नित हरिकथा होति जहँ भाई पठवौं तहाँ सुनहु तुम जाई।
जाइहि सुनत सकल संदेहा राम चरन होइहि अति नेहा॥'

कहने की आवश्यकता नहीं कि रामचरित-मानस में ही आदि मध्य, अवसान क्या सर्वत्र राम प्रभु प्रतिपादित किए गए हैं और यही गोस्वामीजी का इष्ट विषय है।

यह तो निश्चित हो गया कि गोस्वामीजी ने रामचरित मानस में भक्ति का निरूपण और राम के प्रभुत्व का प्रतिपादन किया है। अब थोड़ा यह भी विचारना चाहिए कि गोस्वामीजी को संवादों की उद्भावना से इस क्षेत्र में सहायता क्या मिली। तो सर्वप्रथम याज्ञवल्क्य और भरद्वाज के प्रसंग को लीजिए। भरद्वाज के संबंध में गोस्वामीजी का कथन है—

'भरद्वाज मुनि बसहिं प्रयागा तिनहिं राम पद अति अनुरागा।
तापस सम-दम दया निधाना, परमारथ पथ परम सुजाना।'

इस कथन से स्पष्ट है कि भरद्वाज तत्त्वज्ञानी भक्त थे और उनके आश्रम में मुनि लोग—

"ब्रह्म निरूपन धर्म बिधि, बरनहिं तत्व-बिभाग।
कहहिं भगति भगवंत कै, संजुत ग्यान बिराग॥"

एक दिन—

"जागबलिक मुनि परम बिबेकी, भरद्वाज राखे पद टेकी।
करि पूजा मुनि सुजसु बखानी, बोले अति पुनीत मृदु बानी।
नाथ एक संसउ बड़ मोरें, करगत बेदतत्व सब तोरें।
कहत सो मोहि लागत भय लाजा, जौं न कहौं बड़ होइ अकाजा।"

आदि बड़ी लम्बी-चौड़ी भूमिका के उपरांत उन्होंने याज्ञवल्क्य से पूछ ही तो दिया—

"राम कवनु प्रभु पूछौं तोही, कहिअ बुझाइ कृपानिधि मोही।
एक राम अवधेस-कुमारा, तिन्ह कर चरित बिदित संसारा।
नारि-बिरहं दुखु लहेउ अपारा, भयउ रोषु रन रावनु मारा।
प्रभु सोइ राम कि अपर कोइ, जाहि जपत त्रिपुरारि।
सत्यधाम सर्बग्य तुम्ह, कहहु बिबेकु बिचारि॥"

याज्ञवल्क्य ताड़ गए कि भरद्वाज राम-चर्चा चाहते हैं। उन्होंने प्रसन्न चित्त से कहा—

"चाहहु सुनै रामगुन गूढ़ा, कीन्हिहु प्रस्न मनहुँ अति मूढ़ा।
तात सुनहु सादर मन लाई, कहौं राम कै कथा सुहाई।
ऐसेइ संसय कीन्ह भवानी, महादेव तब कहा बखानी।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि याज्ञवल्क्यजी ने भरद्वाजजी के संशय के नाश के लिये शंकर और पार्वती का प्रसंग छेड़ दिया और भरद्वाजजी के प्रश्न का समाहार पार्वतीजी के प्रश्न में कर दिया।

पार्वतीजी का प्रश्न भरद्वाजजी के प्रश्न से कहीं अधिक व्यापक और गहन है। पार्वतीजी ने जान बूझकर शंकरजी को नहीं छेड़ा था। उनको तो राम का रहस्य कुछ भी ज्ञात न था। जब शंकरजी ने विरही राम का अभिवादन किया और उनके प्रेम में मग्न हो गए, तब पार्वती के मन में कई प्रकार के तर्क उठने लगे—

"शंकर जगतबंद्य जगदीसा, सुर नर मुनि सब नावत सीसा।

तिन्ह नृपसुतहिं कीन्ह परनामा, कहि सच्चिदानंद परधामा ।
भए मगन छबि तासु बिलोकी, अजहुँ प्रीति उर रहति न रोकी ।
ब्रह्म जो व्यापक बिरज अज, अकल अनीह अभेद ।
सो कि देह धरि होइ नर, जाहि न जानत वेद ।"

पार्वतीजी की समझ में यह बात न आ सकी कि परब्रह्म अवतार धारण कर सकता है । जब उनका ध्यान विष्णु की ओर गया और उन्होंने विचार किया कि शायद भोलानाथ ने उन्हीं का अवतार समझकर राम का अभिवादन कर लिया हो, तब भी उनका चित्त शांत न हुआ । उन्होंने मन ही मन कहा—

"विष्णु जो सुरहित नरतनु धारी, सोउ सर्वग्य जथा त्रिपुरारी ।
खोजै सो कि अग्य इव नारी, ग्यानधाम श्रीपति असुरारी ।"

सती के इन प्रश्नों का समाधान न हो सका । शंकरजी ने उनके छल को देखकर उन्हें त्याग दिया और समय पाकर पार्वती के रूप में वे उनकी पत्नी हुईं । सती के रूप में उन्हें जिस अज्ञान का कटु अनुभव हुआ था वे उस अज्ञान को नष्ट करना चाहती थीं, और राम के स्वरूप को अच्छी तरह समझकर तब कुछ और प्रसंग छेड़ना चाहती थीं । निदान शंकरजी को शांत देखकर उन्होंने उनसे प्रश्न किया —

"बिस्वनाथ मम नाथ पुरारी, त्रिभुवन महिमा बिदित तुम्हारी ।
जौं मो पर प्रसन्न सुखरासी, जानिअ सत्य मोहि निज दासी ।
तौ प्रभु हरहु मोर अग्याना, कहि रघुनाथ कथा बिधि नाना ।
तुम्ह पुनि राम राम दिन राती, सादर जपहु अनँग आराती ।
राम सो अवध नृपति सुत सोई, की अज अगुन अलखगति कोई ।
जौं नृपतनय त ब्रह्म किमि ? नारि बिरह मति भोरि ।
देखि चरित महिमा सुनत, भ्रमति बुद्धि अति मोरि ॥
जौं अनीह व्यापक बिभु कोऊ, कहहु बुझाइ नाथ मोहि सोऊ ।
अग्य जानि रिस उर जनि धरहू, जेहि बिधि मोह मिटै सोइ करहू ।"

पार्वती ने अनुनय विनय में यहाँ तक कह दिया कि—

"जदपि जोषिता नहिं अधिकारी, दासी मन-क्रम बचन तुम्हारी ।

गूढउ तत्व न साधु दुरावहिं, आरत अधिकारी जहँ पावहिं ।"

सारांश यह कि पार्वती जी ने शंकर जी को रामचरित मानस कहने के लिये मना लिया और शंकर जी उनके प्रश्नों के समाधान में मग्न हुये । अच्छा तो पार्वतीजी ने शंकरजी से प्रश्न किया—

"गरुड़ महाग्यानी गुनरासी, हरि सेवक अति निकट निवासी ।
तेहि केहि हेतु काग सन जाई सुनी कथा मुनि निकर विहाई ॥
कहहु कवन विधि भा संवादा, दोउ हरिभगत काग उरगादा ।"

और शंकरजी ने तुरत उत्तर दिया—

"बंधन काटि गएउ उरगादा, उपजा हृदय प्रचंड विषादा ।
प्रभु-बंधन समुझत बहु भाँती, करत बिचार उरग-आराती ॥
व्यापक ब्रह्म बिरज बागीसा माया मोह पार परमीसा ।
सो अवतार सुनेउँ जग माहीं, देखेउँ सो प्रभाव कछु नाहीं ॥

भवबंधन ते छूटहिं, नर जपि जाकर नाम ।
खर्ब निशाचर बाँधेउ नागपास सोइ राम ?

× × ×

तेहि मम पद सादर सिर नावा, पुनि आपन संदेह सुनावा ।

× × ×

सुनि ताकर बिनीत मृदु बानी प्रेम सहित मैं कहेउँ भवानी ।

× × ×

उत्तर दिसि सुंदर गिरि नीला तहँ रह कागभुसुंडि सुसीला ।

× × ×

जाइ सुनहु तहँ हरिगुन भूरी, होइहि मोह-जनित दुख दूरी ।"

शंकरजी के कथनानुसार गरुड़ जी काग के यहाँ गए । वहाँ जाते ही काग का उन पर कुछ ऐसा प्रभाव पड़ा कि उनका सारा संशय दूर हो गया और उन्होंने कागभुसुंडि से कहा—

"सुनहु तात जेहि कारन आएउँ सो सब भएउ दरस तव पाएउँ ।
देखि परम पावन तव आस्रम, गएउ मोह संसय नाना भ्रम ॥

जब श्रीराम-कथा अति पावनि, सदा सुखद दुख पुंज नसावनि।
सादर तात सुनावहु मोही, बार बार बिनवौं प्रभु ताही॥"

संवादों का जो संक्षिप्त परिचय ऊपर दिया गया है उससे इतना तो स्पष्ट ही है कि गोस्वामीजी ने प्रत्येक संवाद की योजना किसी न किसी विशेष उद्देश्य से की है। यद्यपि प्रत्येक संवाद का प्रतिपाद्य विषय यही है कि दशरथ के पुत्र राम ही परब्रह्म हैं और उन्हीं की भक्ति का प्रतिपादन वेद पुराण और संत करते हैं, तथापि उसके प्रतिपादन की शैली में यह कहा जा सकता कि भिन्न संवाद का महत्त्व क्या है। गोस्वामीजी ने संवादों के प्रसंग में 'यथाश्रुत', 'यथामति' और 'अनुभव' का उल्लेख बराबर किया है। यदि रामचरित-मानस की रचना शंकरजी ने की है तो रामचरित-मानस कागभुसुंडि और याज्ञवल्क्य के लिये यथाश्रुत हुआ। शंकरजी के लिये रामचरित श्रुत था, किन्तु रामचरित मानस तो उनके लिये 'यथामति' था। अस्तु, 'मानस' उनके लिये केवल 'श्रुत' नहीं, अपि तु उनकी 'मति' और 'अनुभव' का भी परिणाम है। कागभुसुंडि की मति भी रामचरित मानस के अनुकूल ही है। उन्हें भी इस बात का अनुभव हो गया है कि राम भक्ति से बढ़कर लोक मंगल और परमार्थ सिद्धि के लिये कोई अन्य साधन नहीं है। परंतु याज्ञवल्क्यजी न तो अपने अनुभव का नाम लेते हैं और न अपनी मति का पुष्ट उल्लेख करते हैं। इसका कारण हमारी समझ में यह है कि याज्ञवल्क्य और भरद्वाज का संवाद अन्य संवादों से बहुत कुछ भिन्न है। भरद्वाज को कभी राम के स्वरूप में सचमुच संदेह हुआ था, इसका पता 'मानस' से नहीं चलता। गोस्वामीजी ने भरद्वाज के संबंध में स्पष्टतः लिख दिया है कि वे ब्रह्मवेत्ता, ज्ञानी राम भक्त थे और सदा तत्त्व चिंतन में लीन रहते थे। उनको न तो पार्वती की भाँति भ्रम के कारण एक जन्म का दुःख सहना पड़ा था और न गरुड़ की भाँति संशय के कारण इधर-उधर भटकना पड़ा था। उन्होंने याज्ञवल्क्य के सामने संशय को तब रखा जब उन्हें पता चला कि याज्ञवल्क्यजी ब्रह्मवादी और परम विवेकी हैं। उनके हृदय में राम और ब्रह्म के स्वरूप में कुछ संशय न था। उन्होंने संशय की कल्पना इसलिये की थी कि इस प्रकार प्रश्न करने से याज्ञवल्क्यजी अवश्य ही कुछ राम-चर्चा करेंगे। याज्ञवल्क्यजी ने भरद्वाजजी

के नार का ताड़ लिया, और स्पष्ट कहा भी—

"राम भगत तुम्ह मन क्रम-बानी, चतुराई तुम्हारि म जानी।
चाहहु सुने रामगुन गूढ़ा कीन्हहु प्रश्न मनहुँ अति मूढ़ा ॥"

भरद्वाजजी ने इसका विरोध नहीं किया। याज्ञवल्क्यजी ने कहना आरंभ किया। उन्हाने सीधे रामचरित न कहकर पहले शिवचरित कह दिया। भरद्वाजजी मनोयोग के साथ उसको सुनते रहे। याज्ञवल्क्यजी ने देख लिया कि भरद्वाजजी को रामचरित का रहस्य ज्ञात है। इनसे रामचरित मानस कहने की आवश्यकता है। 'मानस' को सुन लेने से ये फिर कभी इस प्रकार प्रश्न न करेंगे। अत एव उन्होंने भरद्वाज से कहा—

"प्रथमहि मैं कहि सिवचरित बूझा मरमु तुम्हार।
सुचि सेवक तुम्ह राम के रहित समस्त बिकार ॥
मैं जाना तुम्हार गुन सीला, कहउँ सुनहु अब रघुपति लीला।"

भरद्वाज तो जानते ही थे कि अवधेश कुमार राम ही परब्रह्म हैं और याज्ञवल्क्य ने भी अच्छी तरह जान लिया कि भरद्वाज केवल राम-चरित सुनना चाहते हैं। पर इतने में ही उनका समाधान तो हो नहीं सकता था। प्रश्न का उत्तर देना आवश्यक था। निदान उन्होंने उमा और शंभु का संवाद सुना दिया जिसमें उक्त प्रश्न का परित समाधान किया गया था। हो सकता है कि कुछ लोगों को हमारा यह कथन खटकता हो और वे याज्ञवल्क्य के कथन को भरद्वाज के प्रति शिष्टाचार समझते हों। परन्तु थोड़ा विचार करने से स्पष्ट हो जायगा कि उनकी यह धारणा निराधार है। यदि भरद्वाज के हृदय में सचमुच कोई संदेह होता तो वे भी रामचरित मानस को सुनकर याज्ञवल्क्य के प्रति अपनी कृतज्ञता का ज्ञापन करते और उनको विश्वास दिलाते कि उनका संदेह नष्ट हो गया। परन्तु हम देखते हैं कि गोस्वामीजी ने इस संवाद का उपसंहार इस प्रकार कर दिया है कि भरद्वाज को कुछ कहने का अवसर ही नहीं दिया गया। याज्ञवल्क्य ने भरद्वाज से कह दिया—

"राम उपासक जे जग माहीं, एहि सम प्रिय तिन्हके कछु नाहीं।"

और इन मुनियों के संवाद का उपसंहार हो गया। भरद्वाज ने इसका कुछ उत्तर न दिया। अस्तु, हम कह सकते हैं कि याज्ञवल्क्य और भरद्वाज

के सवाद की सबसे बड़ी विशेषता है उसके श्राता की योग्यता । निदान इस सवाद को तत्त्वज्ञानियों का मनोविनोद अथवा शुद्ध सत्संग कहना चाहिए।

याज्ञवल्क्य और भरद्वाज के प्रसंग में एक विचारणीय बात यह है कि इनके सवाद में शिवचरित की योजना का गई है। गोस्वामीजी ने रामचरित मानस के आरम में ही शिवचरित का विधान कर यह सिद्ध कर दिया कि वस्तुत राम-चरित का अधिकारी नहीं है जो शिवचरित का प्रेमी हो। जिसका शिवचरित न रुचा वह भला शिवरचित रामचरित-मानस का अवगाहन क्या करेगा और उसे इस बात का पता भी कैसे होगा कि तत्त्वत राम और शिव में कोई भेद नहीं है? गोस्वामीजी ने कागभुसुडि और गरुड़ के सवाद में भी इसी को पुष्ट किया है। परतु उसमें वह बात नहीं आ पाई है जो याज्ञवल्क्य और भरद्वाज के सवाद में है। इसका कारण स्पष्ट है। याज्ञवल्क्यजी भरद्वाजजी की परीक्षा लेने के लिये शिवचरित कहते हैं किंतु काग जी अपनी आत्म कथा सुनाते समय यह दिखा देते हैं कि वास्तव में वही राम का प्रिय हो सकता है जिसे शिवजी प्रिय लगते हैं। साराश यह कि गोस्वामीजी ने इन तत्त्वज्ञानियो के सवाद की योजना मानस' में इसलिये की कि हम राम और शिव के भेद को मिटा दें और देख लें कि जिस प्रकार परब्रह्म को लीला विस्तार की आव-श्यकता इसलिये पड़ती है कि वह अपने आनन्दस्वरूप का आनन्द उठा सके उसी प्रकार तत्त्वज्ञानियों को भी इस बात की जरूरत है कि वे उसके चरित का अवलोकन करें और उससे आनन्द उठाएँ। इस दृष्टि से विचार करने पर स्पष्ट हो जाता है कि गोस्वामीजी ने याज्ञवल्क्य और भरद्वाजजी के सवाद की योजना रामचरित मानस में क्यों की और किस प्रकार उसके आधार पर सिद्ध कर दिया कि वास्तव में वही राम का सच्चा भक्त है जो शिव का भी सम्मान करता है और ज्ञान की चरमावस्था में भी रामचरित की अवहेलना नहीं करता; बल्कि उसी के गुण गान में आनद पाता है।

योगियों अथवा सतों के उपद्रवों का उत्तर गोस्वामीजी ने शिव-पार्वती सवाद में दिया। भक्ति-मार्ग से शिव-पार्वती का क्या सबध है इसका विवेचन यहाँ नहीं हो सकता। परंतु इतना तो निवेदन कर देना अनिवार्य हो गया है कि गोरख तथा कबीर का सारा दर्शन तत्रशास्त्र पर अवलम्बित है। हठयोग

और 'महारास' का सारा विधान तंत्रसाहित्य में भरा पड़ा है और तन्त्र ही में शिव पार्वती संवाद की व्यवस्था भी है। पुराणों ने यहीं से इसको अपनाया है। तंत्रों के भक्ति-पक्ष को भागवतों ने किस प्रकार अपना लिया इसके परिशीलन की बड़ी आवश्यकता है। यहाँ तो अभी इतना ही कहना अलं जान पड़ता है कि गोस्वामीजी ने उसी चिरपरिचित शिव पार्वती-संवाद में राम-भक्ति की प्रतिष्ठा की और यह दिखा दिया कि वास्तव में—

"तुम्ह जो कहा राम कोउ आना, जेहि स्रुति गाव धरहिं मुनि ध्याना।

कहहिं सुनहिं अस अधम नर ग्रसे जो मोह पिसाच,
पाषंडी हरि-पद-विमुख जानहिं झूठ न साँच।

× × × ×

मुकुर मलिन अरु नयन विहीना, रामरूप देखहिं किमि दीना।
जिनके अगुन न सगुन विवेका, जल्पहिं कल्पित बचन अनेका।
हरि माया-बस जगत भ्रमहीं, तिन्हहिं कहत कछु अघटित नाहीं।"

कहने का तात्पर्य यह कि भक्ति निरूपण की दृष्टि से यह संवाद बड़े ही महत्त्व का है और इसी में गोस्वामीजी के अध्यात्म अथवा दर्शन का परिस्फुरण हुआ है।

सती के हृदय में जो संदेह उत्पन्न हो गया था वह बहुत कुछ आध्यात्मिक था। सती भली भाँति जानती थीं कि ब्रह्म और विष्णु के स्वरूप में भारी भेद है। उनकी समझ में विष्णु का अवतार संभव था, किंतु यह बात वे न समझ पाती थीं कि ब्रह्म भी नर देह धारण कर सकता है। जब शंकरजी ने राम को सच्चिदानंद कहकर प्रणाम किया तब सती के हृदय में संदेह उठा—

"ब्रह्म जो व्यापक बिरज अज अकल अनीह अभेद,
सो कि देह धरि होइ नर जाहि न जानत वेद।"

सती का इतने से ही संतोष न मिला। उनका तर्क बढ़ता ही गया—

"विष्णु जो सुरहित नर-तनु धारी, सोउ सर्बग्य जथा त्रिपुरारी।
खोजै सो कि अग्य इव नारी, ग्यान धाम श्रीपति असुरारी॥"

सती को काल चक्र के प्रभाव से पार्वती का रूप मिला, पर उनका संदेह

वैसाही बना रहा। संदेह के निवारण के लिये एक दिन उन्होंने शंकरजी से बड़ी विनय के साथ प्रश्न किया—

"जौं नृप-तनय तौ ब्रह्म किमि नारि-विरह-मति भारि,
देखि चरित महिमा सुनत भ्रमति बुद्धि अति मोरि।"

पहले की अंतर्दशा में यह दशा बिल्कुल भिन्न थी। परन्तु पार्वती की समझ में अब भी यह बात नहीं आती थी कि ब्रह्म नर होकर नर-चरित कर सकता है, यद्यपि अब उन्हें इस बात का बोध हो गया था कि यह उनके अज्ञान का परिणाम है। फलतः उन्होंने प्रणिधान के आधार पर मोह-निवारण का साधु आग्रह किया। उनकी प्रवृत्ति को देखकर शिवजी ने समझ लिया कि अब इन्हें राम स्वरूप के जानने की सच्ची जिज्ञासा है। निदान वे उनके प्रश्नों का समाधान करने लगे।

पार्वती को इस बात का पता चला था कि परमार्थवादी मुनि राम को ही परब्रह्म कहते हैं और वेद-पुराण भी उसी राम का गुण-गान करते तथा स्वयं शंकरजी भी दिन-रात राम ही का नाम जपते हैं। अस्तु, उनके हृदय में अब यह प्रश्न था कि राम का वास्तविक स्वरूप क्या है—राम ब्रह्म हैं कि दशरथ के पुत्र हैं कि स्त्री के विरह में मारे मारे फिरनेवाले सामान्य व्यक्ति हैं, अथवा सब कुछ वही हैं। पार्वतीजी के प्रश्नों के विश्लेषण से व्यक्त होता है कि उन्हें अवतारवाद में भी अज्ञात आपत्ति थी। परब्रह्म का अवतार उनकी समझ में नहीं आता था। हम पहले ही कह चुके हैं कि शुद्ध दर्शन का निर्वाह 'मानस' जैसे रामचरित में नहीं हो सकता था। गोस्वामीजी अवतारवाद का प्रतिपादन एक काव्य ग्रंथ में, शास्त्रीय पद्धति पर, कहाँ तक कर सकते थे? सच पूछिए तो उस समय अवतारवाद के प्रतिपादन की आवश्यकता भी न थी। कर्म-विपाक और जन्मांतर की प्रतिष्ठा के कारण अवतार कोई अजीब बात न थी। हिन्दू-जनता के सामने पुनर्जन्म का पचड़ा गाना बेकार था। पार्वती जी स्वयं अवतार के रूप में प्रतिष्ठित थीं। उन्हें अवतारवाद पर विश्वास था पर उन्हें परब्रह्म के अवतार में संदेह उत्पन्न हो गया था। शंकरजी ने उन्हें समझा दिया—

"अगुन अरूप अलख अज सोई, भगत-प्रेम बस सगुन सो होई।
जो गुन रहित सगुन सोइ कैसे, जलु हिम उपल बिलग नहिं जैसे ॥"

शंकरजी से पार्वतीजी तर्क करने नहीं बैठी थीं। उनको रामचरित सुनना था। वे जानती थीं कि राम बुद्धि के कठघरे में घेरकर नहीं समझे जा सकते। अतः उनको संतोष हो गया कि परब्रह्म नर देह धारण कर नर-लीला कर सकता है। जब शंकरजी ने अच्छी तरह समझाकर उनके सामने स्पष्ट कर दिया कि—

'जेहि इमि गावहि बेद बुध जाहि धरहिं मुनि ध्यान।
सोइ दसरथ सुत भगत हित कोसलपति भगवान ॥"

तब पार्वतीजी ने स्वीकार कर लिया कि—

"तुम्ह कृपाल सब संसउ हरेऊ, राम सरूप जानि मोहि परेऊ'।

राम-स्वरूप को समझ लेने पर पार्वतीजी ने फिर प्रश्न किया—

"राम ब्रह्म चिन्मय अविनासी, सर्ब रहित सब उर-पुर बासी।
नाथ धरेउ नर तनु केहि हेतू, मोहि समुझाइ कहहु बृषकेतू ॥"

पार्वती का यह प्रश्न भी हो महत्त्व का है। जब राम सबके हृदय में निवास करते हैं तब उन्हें शरीर धारण करने की क्यों आवश्यकता पड़ती है? बात यह है कि कबीर आदि संतों ने इस बात का बार बार आग्रह किया था कि राम हृदय में रमते हैं। अतः हृदय के भीतर ही राम को झाँकना ठीक है। अस्तु, पार्वतीजी का भी प्रश्न है कि जब राम हृदय में बसते हैं तब उन्हें उसी में क्यों न देखा जाय। राम शरीर धारण कर हृदय के बाहर क्यों दिखाई देते हैं? शंकरजी ने इस बात का उल्लेख पहले ही कर दिया था कि अज्ञानवश लोग राम के स्वरूप को नहीं जान पाते। जिनका हृदय दर्पण की भाँति स्वच्छ नहीं है उनको राम का साक्षात्कार उसमें किस प्रकार हो सकता है? सच बात तो यह है कि हृदय में राम की धूम मचानेवाले संतों ने इस बात पर ध्यान ही नहीं दिया कि यदि राम सबके हृदय में बसते हैं तो मानव हृदय को किसी कबीर या पैगंबर की आवश्यकता किस लिये पड़ती है। तर्क की दृष्टि से क्या यह शुद्ध पाखंड नहीं है कि जो 'हस उबारने' के लिये आता है और 'समरथ का परवाना' लाता है वही हिन्दू जनता से

आग्रह करता है कि वह राम को हृदय के भीतर देखे और शरीरधारी राम को उस राम से सर्वथा भिन्न माने जिसे वह अपना पति समझता है? भला यदि कोई कबीर से पूछता कि जब राम सबके हृदय में निवास करते ही हैं तब आपको हमारे बीच में आने की आवश्यकता क्या पड़ी और आपको क्या किसी ने हमारे पास भेज दिया, तब कबीर क्या जवाब देते?

हाँ, कबीर के अनुयायियों में इतनी बुद्धि न थी पर गोस्वामीजी इस प्रश्न का महत्त्व या प्रश्न समझते थे। तभी तो उन्होंने इस प्रश्न का 'मानस' में विधान किया और उसका शंकरजी से इस प्रकार समाधान भी करा दिया जो परंपरागत होने पर भी अपना अलग महत्त्व रखता है। शंकरजी ने पार्वती के प्रश्न का उत्तर दिया—

जब जब होइ धरम कै हानी, बाढ़हिं असुर महा अभिमानी।
करहिं अनीत जाइ नहिं बरनी, सीदहिं विप्र धेनु-सुर धरनी॥
तब तब प्रभु धरि विविध सरीरा, हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा।"

यहाँ तक तो गीता का अनुवाद हुआ। इसके आगे अब तुलसीदास का मत समझिए।

"असुर मारि थापहिं सुरन्ह राखहिं निज श्रुति सेतु।
जग विस्तारहिं विसद जस, राम जनम कर हेतु॥"

राम जन्म लेकर जिस विशद यश का विस्तार करते हैं उसकी उपयोगिता क्या है? इसका समाधान भी शंकरजी ने कर दिया है—

सोइ जस गाइ भगत भव तरहीं कृपासिंधु जनहित तनु धरहीं।"

राम के जन्म-ग्रहण करने और चरित करने का यही प्रयोजन है कि लोक मर्यादा बनी रहे और भक्तों के लिये एक व्यवस्थित राजमार्ग बन जाय जिस पर चलने से उनके दोनों लोक सधें और कहीं भी आनंद और विनोद की मात्रा कम न हो। शंकरजी ने राम के शरीर ग्रहण का कारण तो कह दिया, किन्तु उन्हें आशंका हो गई कि कहीं पार्वतीजी बाह्य का ही अधिक महत्त्व न दे बैठें। निदान उन्होंने कहा—

"हरि व्यापक सर्वत्र समाना, प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना।
देस काल दिसि बिदिसिहु माहीं, कहहु सो कहाँ जहाँ प्रभु नाहीं।

अग जग मय सब रहित बिरागी, प्रेम तें प्रभु प्रगटै जिमि आगी ॥"

राम ही नहीं, राम के उपासक भी उन्हीं के साथ मोक्ष के सुख को त्यागकर शरीर धारण करते हैं और उनके साथ लगे रहते हैं—

'निज इच्छा प्रभु अवतरै, सुर महि गो द्विज लागि ।
सगुन उपासक सग तहँ रहे मोक्ष-सुख त्यागि ।"

पार्वतीजी के राम-सबधी प्रश्नों का समाधान हो गया। उन्होंने राम के स्वरूप और उनके शरीर-धारण करने का रहस्य जान लिया। उनको इस बात का भी पता चल गया कि राम नर लीला क्यों करते हैं। फिर भी उनकी समझ में यह न आ सका कि कैसे काग सा पक्षी भी भक्ति का अधिकारी ही नहीं हो सकता प्रत्युत खगपति के सशय का निवारण भी कर सकता है। शकरजी ने कागभुसुण्डिजी को इतना महत्व दे दिया था कि राम-जन्म का महोत्सव देखने के लिये उनके साथ मनुज रूप में 'चोरी' से अयोध्या गए थे। पार्वतीजी काग के सबध में कुछ जानना चहती थीं। अतएव जब शकरजी ने उनसे पूछा—

"उमा कहेउ सब कथा सुहाई, जो भुसुंडि खगपतिहि सुनाई।
कछुक रामगुन कहेउँ बखानी, अब का कहौं सो कहहु भवानी ॥"

तब उन्होंने अपने हृदय के भाव को स्पष्ट उनके सामने रख दिया और कहा—

"बिरति ग्यान बिग्यान दृढ रामचरित अति नेह।
बायस तन रघुपति-भगति, मोहि परम सदेह ॥"

पार्वतीजी का सदेह और भी बढ गया था। काग तो राम भक्ति का उपदेश दे और हरियान खगपति उसका श्रवण करे। अस्तु, उन्होंने शिवजी से पूछ ही तो दिया—

'गरुड़ महाग्यानी गुनरासी, हरिसेवक अति निकट निवासी।
तेहि केहि हेतु काग सन जाई, सुनी कथा मुनि निकर बिहाई ?"

कागभुसुंडि और गरुड़ के संवाद की *सबसे बड़ी विशेषता यह है कि प्रजा वक्ता और राजा श्रोता है। इससे बढ़कर अजीब बात भला क्या होगी कि विष्णु के निकट रहनेवाला खगपति एक चाडाल पक्षी

से राम-भक्ति की दीक्षा लेने जाय और उनके आश्रम को देखते ही उसका भ्रम नष्ट हो जाय? पार्वतीजी को भी रामचरित देखकर मोह हुआ था, पर गरुड़जी का मोह सुनकर तो वे और भी विस्मय में पड़ गईं। उनके आश्चर्यमय प्रश्न का उत्तर शंकरजी ने दिया। उन्होंने कहा—

"जब रघुनाथ कीन्ह रन-क्रीड़ा, समुझत चरित होत मोहि व्रीड़ा।
इंद्रजीत कर आपु बँधायो, तब नारद मुनि गरुड़ पठायो॥
बंधन काटि गएउ उरगादा, उपजा हृदय प्रचंड बिखादा।
प्रभु-बंधन समुझत बहु भाँती, करत बिचार उरग-आराती॥
ब्यापक ब्रह्म बिरज बागीसा, माया-मोह पार परमीसा।
सो अवतार सुनेउँ जग माहीं, देखेउँ सो प्रभाव कछु नाहीं॥
भव बंधन तें छूटहिं नर जपि जाकर नाम।
खर्ब निसाचर बाँधेउ नागपास सोइ राम॥
नाना भाँति मनहिं समुझावा, प्रगट न ग्यान हृदय भ्रम छावा।
खेदखिन्न मन तर्क बढ़ाई, भएउ मोहबस तुम्हरिहि नाईं॥"

गरुड़ भी पार्वती की तरह रामचरित को देख मोह में पड़ गए और नाना प्रकार के तर्क करने लगे। नारद, ब्रह्मा आदि के यहाँ से लौटकर खगराज शंकरजी के पास चले। शंकरजी ने भी उनका समाधान किया—

"मिलेउ गरुड़ मारग महँ मोही, कवन भाँति समुझावौं तोही।"

और कृपाकर उनको कागभुसुंडिजी के पास भेज दिया। पार्वतीजी की समझ में यह बात नहीं आई कि शंकर सा राम का भक्त किसी राम-भक्त को इस प्रकार क्यों टाल देता है। यह देखकर शंकरजी ने उनका समाधान करते हुए कहा—

"मैं जब तेहि सब कहा बुझाई, चलेउ हरषि मम पद सिरु नाई।
तातें उमा न मैं समुझावा, रघुपति कृपा मरमु मैं पावा॥
होइहि कीन्ह कबहुँ अभिमाना, सो खोवै चह कृपा निधाना॥"

हाँ, उन्हें इस बात का अभिमान हो गया था कि उन्होंने प्रभु का उद्धार किया। यही कारण था कि प्रभु ने उनके हृदय में कुछ ऐसी प्रेरणा की कि

शंकरजी से अनुरोध न कर वे कागभुशुंडि के पास चले गये। कागभुशुंडिजी ने गरुड़ का आदर-सत्कार करते हुए कहा—

"नाथ कृतारथ भएउँ मैं, तव दरसन खगराज।
आयसु देहु सो करौं अब, प्रभु आएहु केहि काज।"

और खगपतिजी ने उत्तर दिया—

"देखि परम पावन तव आस्रम, गएउ मोह संसय नाना भ्रम।
अब श्रीराम-कथा अति पावनि, सदा सुखद दुख-पुंज नसावनि॥
सादर तात सुनावहु मोही, बार बार बिनवौं प्रभु तोही।"

रामचरित सुनने के उपरांत गरुड़जी ने काग से कहा—

"गएउ मोर संदेह, सुनेउँ सकल रघुपति चरित,
भएउ राम-पद-नेह, तव प्रसाद बायसतिलक।"

अब उन्होंने अपने संदेह का भी स्पष्टीकरण कर दिया—

"मोहि भएउ अति मोह प्रभु-बंधन रन महँ निरखि,
चिदानंद-संदोह रामु बिकल कारन कवन।
देखि चरित अति नर अनुसारी, भएउ हृदय मम संसय भारी।
सोइ भ्रम अब हित करि मैं जाना, कीन्ह अनुग्रह कृपानिधाना॥
जो अति आतप व्याकुल होई, तरु छाया सुख जानै सोई।
जौं नहिं होत मोह अति मोही, मिलतेउँ तात कवन बिधि तोही।"

कागभुशुंडिजी ने गरुड़ जी से निवेदन किया—

"तुम्हहिं न संसय मोह न माया, मोपर नाथ कीन्ह तुम्ह दाया।
पठै मोह मिस खगपति तोही, रघुपति दीन्हि बड़ाई मोही॥

× × × ×

मायाबस मतिमंद अभागी, हृदय जवनिका बहु बिधि लागी।
ते सठ हठ-बस संसय करहीं, निज अग्यान राम पर धरहीं॥"

अस्तु, कागभुशुंडिजी ने स्पष्ट कर दिया कि रामचरित का उद्देश्य है कि भक्तों को बड़ाई मिले और लोग राम-भक्ति का आनंद उठा सकें। प्रमाण के लिये उन्हें अन्यत्र जाने की आवश्यकता न पड़ी। उन्होंने अपनी आप कह दी। उन्हें भी राम चरित देखकर मोह हो गया था—

'रूपरासि नृप-अजिर बिहारा, नाचहिं निज प्रतिबिंब निहारी।
मो सन करहिं बिबिध बिधि क्रीड़ा, बरनत चरित होति नाहि ब्रीड़ा ॥
किलकत मोहि धरन जब धावहिं, चलौं भागि तब पूप दिखावहिं।
आवत निकट हँसहिं प्रभु, भाजन रुदन कराहिं।
जाउँ समीप गहन पद, फिरि फिरि चितै पराहिं ॥
प्राकृत सिसु इव लीला देखि भएउ मोहि मोह।
कवन चरित्र करत प्रभु चिदानंद-संदोह ॥"

कागभुसुंडि के मोह का निवारण जिस प्रकार हुआ उसको रामचरित मानस के पाठक जानते ही हैं। उसके कथन की आवश्यकता नहीं। प्रसंगवश यहाँ इतना कहे देते हैं कि कागभुसुंडि को भक्ति मिली थी, फिर भी उनको राम चरित देखकर मोह हो गया। इस मोह को देखकर गरुड़जी और पार्वतीजी को व्यक्त हो गया कि वास्तव में राम चरित ही आनंद का विधायक है। राम चरित का आनंद न ले जो राम की मीमांसा में लीन होता है वह संदेह सागर में डूब जाता है प्रणिधान एवं राम के प्रसाद के बिना उसका उद्धार किसी उपाय से नहीं होता। कागभुसुंडि ने गरुड़ के सामने यह प्रत्यक्ष कर दिया कि मर्यादा का पालन और भक्तों का निर्वाह राम कितनी सावधानी और तत्परता से करते हैं। उन्होंने दिखा दिया कि राम का कहना कितना मर्मज्ञ है—

'भगतिवंत अति नीचउ प्रानी, मोहि प्रानप्रिय असि मम बानी।
× × × ×
पुरुष नपुंसक नारि नर जीव चराचर कोइ
सर्बभाव भज कपट तजि मोहि परम प्रिय सोइ।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि गोस्वामीजीने कागभुसुंडि और गरुड़ के संवाद में राम चरित की महिमा का निदर्शन किया है और पार्वतीजी के उस प्रश्न पर प्रकाश डाला है जो उन्होंने राम चरित के संबंध में शंकरजी से पूछा था। राम के नर लीला करने का उद्देश्य है कि नर राम में अपना रूप देख सकें और अपने हृदय का तादात्म्य उनके हृदय के साथ स्थापित कर सकें।

कागभुसुंडि ने भक्ति का निरूपण बड़ी तत्परता से किया। यदि भक्ति के

स्वरूप से परिचित होना हो तो कागभुसुंडि और गरुड़ के संवाद पर ध्यान देना चाहिए। गोस्वामीजी ने जिस आदर्श संत मत का प्रतिपादन किया है वह यही संत-मत है। कागभुसुंडिजी ने गरुड़जी से स्वतः कहा है—

"राम अमित-गुन-सागर थाह कि पावै कोइ।
संतन्ह सन जस कछु सुनेउँ तुमहिं सुनाएउँ सोइ।"

काग का समय केवल राम-गुण-गान में व्यतीत होता था। जब शंकरजी सती के वियोग में दुखी हो रहे थे तब मराल के रूप में उन्होंने कागभुसुंडि के यहाँ निवास किया था, और वहीं उनका विशेष आनंद भी मिला था। ऐसे महात्मा संत की चर्या थी—

'पीपर तरु तर ध्यान जो धरइ, जाप जग्य पाकरि तर करइ।
आमछाँह कर मानस पूजा, तजि हरि भजनु काजु नहिं दूजा॥
बर तर कह हरि-कथा प्रसंगा, आवहिं सुनहिं अनेक बिहंगा।
रामचरित बिचित्र बिधि नाना, प्रेम सहित-कर सादर गाना॥
सुनहिं सकल मति बिमल मराला बसहिं निरंतर जा तेहि ताला।"

काग की इस चर्या में विचारणीय बात यह है कि इसमें जप यज्ञ और ध्यान का भी विधान है। काग ने जो कुछ गरुड़जी से कहा उसके संबंध में उनका कथन है—

"निज मति सरिस नाथ मैं गाया, प्रभु-प्रताप महिमा खगराया।
कहेउँ न कछु करि जुगुति बिसेखी यह सब मैं निज नयननि देखी॥"

और कागभुसुंडिजी का अनुभव तो यह है—

"निज अनुभव अब कहौं खगेसा, बिनु हरि भजन न जाहिं कलेसा।"

निष्कर्ष यह कि जिस संत-मत के नाम पर जनता ठगी जा रही थी उसका खंडन कर गोस्वामीजीने जिस व्यवस्थित संत-मत का प्रतिपादन किया वह यही कागभुसुंडि का संत मत है। इसमें यह दिखा दिया गया है कि भक्तिका अधिकारी प्राणिमात्र है। पर वास्तव में भक्त वही है जो वर्ण-व्यवस्था अथवा धर्म की मर्यादा का ध्यान रखता है। जो धर्म द्रोही है, वेद पुराण की निंदा करता है, वह वस्तुतः भक्त नहीं और चाहे जो कुछ हो—

"जो नहिं दंड करौं खल तोरा, भ्रष्ट होइ श्रुति मारग मोरा।"

में इसी तथ्य का निदर्शन किया गया है। परंतु इसमें किसी का नीच कह उसका अपमान नहीं किया गया है। इसका सबसे दृढ़ प्रमाण यह है कि कागभुसुंडिजी को भक्ति-प्रभाव के कारण काग तन अत्यंत प्रिय है और खगराज के समान स्वच्छ पक्षी उसी चांडाल काग से भक्ति का स्वरूप समझता है। निदान, कागभुसुंडि और गरुड़ का संवाद संत-मत-प्रतिपादन की दृष्टि से मानस में रखा गया और फलतः जनता के सामने भक्ति का श्रुति-प्रतिपादित रूप अत्यंत मनोरम रूप में आ गया।

उक्त संवादों के विषय में अबतक जो कुछ कहा गया उसमें हमने देख लिया कि याज्ञवल्क्य और भरद्वाज का संवाद तत्त्वज्ञानी मुनियों का संवाद है जो धर्म और शास्त्र के नाना अंगों पर विचार करते करते जब शांत हो जाते हैं तब मनोविनोद के लिये कुछ राम-चर्चा भी कर लेते हैं और हमारे सामने यह स्पष्ट कर देते हैं कि ज्ञानियों को भी राम-चरित अत्यंत प्रिय है। शिव-पार्वती-संवाद की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसके वक्ता और श्रोता गृहस्थ अथवा पति पत्नी हैं जो देवता अथवा उपास्य होते हुए भी रामोपासक के रूप में हमारे सामने आते हैं और हमें रामभक्ति के साथ ही साथ राम-स्वरूप का भी बोध करा जाते हैं। तीसरे संवाद के संबंध में हम कह ही चुके हैं कि उसका वक्ता चांडाल प्रजा और श्रोता हरियान राजा है और उसमें निरूपण किया गया है श्रुति-प्रतिपादित भक्ति का। कहने का तात्पर्य यह कि गोस्वामीजी ने प्रत्येक संवाद की योजना किसी दृष्टि-विशेष को सामने रखकर ही की है। रामचरित-मानस के प्रत्येक वक्ता 'यथाश्रुत' 'यथामति' एवं 'अनुभव' के आधार पर विशेष ध्यान रखते हैं जिसमें कि उनका कथन वेद, पुराण और संत-मत के अनुकूल हो। यद्यपि मानस के प्रत्येक वक्ता का ध्यान भक्ति के इन तीनों श्रोतों पर है और प्रत्येक वक्ता उनकी त्रिवेणी का रस-पान करा रहा है तथापि याज्ञवल्क्य वेद, शिव-पुराण, एवं कागभुसुंडि संत-मत के अधिष्ठाता हैं। रही गोस्वामी तुलसीदास की बात। वे तो समय से लाभ उठानेवाले जीव ठहरे। उनका आग्रह है कि जब वेद, पुराण, संत सभी रामचरित का गुणगान करते हैं तब हम पामर प्राणियों को उसमें क्यों आपत्ति होनी चाहिए? जब पार्वती का भ्रम मिट

गया और उनके हृदय में भी राम की दृढ़ भक्ति उत्पन्न हो गई, जब गरुड़ का भी संशय नष्ट हो गया और उनकी भी राम में नवीन रति हो गई तब हम आप राम का गुण-गान क्यों न करें। यदि आपके हृदय में इस बात का संदेह हो कि आप न तो पार्वती के समान देवता हैं और न गरुड़ के समान हरियान तो आपका यह संदेह निरा निराधार है। आप तुलसी को ही क्यों नहीं देखते जो—

> "जाकी कृपा-लव-लेश तें मतिमंद तुलसीदास हूँ।
> पाएउ परम बिस्राम राम समान प्रभु नाहीं कहूँ ॥"

राम की तनिक सी कृपा के प्रभाव से परम विश्राम को प्राप्त हो गया तो—

> "रामहिं सुमिरिअ गाइअ रामहि, संतत सुनिअ राम-गुन-ग्रामहिं।
> जासु पतित पावन बड़ बाना, गावहिं कवि-श्रुति-संत-पुराना।
> ताहि भजहिं मन तजि कुटिलाई, राम भजे गति के नहिं पाई ? !"

अब रामचरित-मानस के संवादों के सिंहावलोकन में संक्षेप में हम कह सकते हैं कि गोस्वामी तुलसीदास ने बहुत सोच समझकर ही इन संवादों की योजना रामचरित में की है। रामचरित मानस में इन संवादों के अतिरिक्त और क्या है जो इसे अन्य रामायणों से अलग करता और इतना हृदयग्राही बना देता है? हम यह नहीं कहते कि रामचरित-मानस की प्रबंध-रचना अथवा गोस्वामीजी की काव्य-कौमुदी लोगों के हृदय में अमृत-वर्षा नहीं करती। नहीं, हमारा तात्पर्य यह कदापि नहीं है। हमारे कहने का सीधा-सादा अर्थ तो यह कि संवाद ही रामचरित-मानस के मर्म और गोस्वामी-जी के हृदय के दूत हैं। यदि आप उनकी अवहेलना करते ही जायँगे तो आप 'मानस' का अवगाहन कर तृप्त भले ही हो लें पर आप गोस्वामीजी के मानस को समझ नहीं सकते और साहित्य-समीक्षा के क्षेत्र में आप उनके हृदय की छीछालेदर अवश्य करेंगे। क्या ही अच्छा होता, यदि हिंदी-साहित्य के स्वयं मर्मज्ञ 'मानस' के रहस्य को समझ लेते और तब फिर रामचरित-मानस की आलोचना कर उसकी नवीनता को महत्त्व देते। आशा ही नहीं, दृढ़ विश्वास है कि जो लोग संवादों की विशेषताओं को सामने रखकर, प्रसंग पर ध्यान रखते हुए, उसके स्थलों की मीमांसा करेंगे उनको स्पष्ट अवगत हो

जायगा कि गोस्वामीजी किसी भी रूप में 'घातक' नहीं कहे जा सकते। यदि घातक हैं भी तो लोलुप, व्यसनी और पाषण्डियों के पापड के उनके कदापि नहीं। कविकर्म के भक्तों और साम्यवाद के पट्ठों को एक बार इस दृष्टि से भी रामचरित मानस का अध्ययन कर लेना चाहिए। यदि फिर भी उनको शांति न मिले तो गोस्वामीजी का यह पद स्मरण करें—

> 'जे श्रद्धा सम्बल रहित नहिं संतन्ह कर साथ।
> तिन्ह कहँ मानस अगम अति, जिनहिं न प्रिय रघुनाथ॥"

यदि इतने पर भी संतोष न मिले तो समझ लें कि—

'सकल पदारथ एहि जग माहीं करम हीन नर पावत नाहीं।

जा हा, हम तो ऐसे कर्म-हीन नर नहीं दिखाई देते जो मानस का अवगाहन कर राम रस न चखें और अपने जीवन को सदैव फीका बनाए रहें। औरोंकी बात हम नहीं कहते स्वयं गोस्वामीजी ने इसे—

'सुरसरि-सम सब कहँ हित होई'

कहा है।

और किस उल्लास से घोषणा की है—

> पाइ न केहि पतितपावन राम भजि सुनु सठ मना।
> गनिका अजामिल व्याध गीध गजादि खल तारे घना।
> आभीर जवन किरात खल स्वपचादि अति अघरूप जे।
> कहि नाम बारक तेपि पावन होहिं राम नमामि ते।
> रघुबसभूषन-चरित यह नर कहहिं सुनहिं जे गावहीं।
> कलिमल मनोमल धोइ बिनु श्रम रामधाम सिधावहीं।

८—एक तापस

गोस्वामी तुलसीदासजी ने रामचरित मानस की रचना जिस दृष्टि से की है उसका ठीक-ठीक पता न होने के कारण उनके 'मानस' के विषय में अनेक मतभेद चल पड़े हैं। उन्हीं मतभेदों में से एक मतभेद है रामचरित मानस में एक तापस का प्रसंग। जो लोग रामचरित मानस को केवल रामचरित मात्र समझते हैं उनसे हमारा नम्र निवेदन है कि वे कृपाकर रामचरित की भूमिका का एक बार भलीभाँति पढ़ लें और तब फिर रामचरित मानस की मीमांसा में लगें। अन्यथा कभी भी उन्हें रामचरित मानस का साक्षात्कार न होगा और वे सदा प्रमाद या व्यामोहवश उसमें मीन-मेष निकालते ही रह जायेंगे। ववडर के पात बन जायेंगे।

रामचरित मानस में शुद्ध रामचरित से जुटे हुए जो फुटकर प्रसंग हैं उनके विषय में बाबाजी का निर्देश है—

औरउ कथा अनेक प्रसंगा। तेइ सुक पिक बहु बरन विहंगा॥

तथा—

चित्र विचित्र कथा विचित्र विभागा। जनु सरि तीर तीर बन बागा॥

कहना न होगा कि इसी विचित्र कथा में से एक कथा उस तापस की भी है जिसे लोग न जाने क्यों प्रक्षिप्त बताते हैं। उस तापस का परिचय गोस्वामी जी इस प्रकार देते हैं—

तेहि अवसर एक तापसु आवा। तेजपुंज लघु बयस सुहावा॥

कबि अलखित गति वेषु बिरागी। मन क्रम बचन राम अनुरागी॥

यह तापस कहाँ से टपक पड़ा, इसका जान लेना कुछ कठिन नहीं। यह भी उन्हीं तीरवासी नर-नारियों में है जो 'धाए निज काज बिसारी।' हैं तो यह उन्हीं में एक पर वास्तव में है यह उनसे सर्वथा भिन्न ही। उनमें जो 'बृद्ध' और 'सयाने' थे वे भी 'करि जुगुति रामु पहिचाने।' सो भी किस रूप न पहिचान [illegible] इसका भी तो विचार कीजिये। ठीक उसी

दशरथ के पुत्र राम के रूप में न था 'चलहिं चरे पितु आयसु पाइ ।' किन्तु यह तापस उन्हें किस रूप में देखता है कुछ इसे भी तो देख लीजिये—

सजल नयन तन पुलक निज इष्ट देउ पहिचानि ।
परेउ दंड जिमि धरनि तल दसा न जाइ बखानि ॥

फिर तो—

राम सप्रेम पुलकि उर लावा । परम रंक जनु पारस पावा ॥
मनहुँ प्रेम परमारथ दोऊ । मिलत धरें तन कह सबु कोऊ ॥
बहुरि लखन पायन्ह सोइ लागा । लीन्ह उठाइ,उमगि अनुरागा ॥
पुनि सिय चरन धूरि धरि सीसा । जननि जानि सिसु दीन्ह असीसा ॥

निषाद भला कब चूकनेवाला था, उसने भी अष्ट प्रणाम किया। तापस ताड़ गया कि यह निषाद नहीं वस्तुत 'रामसनेही' है। निदान अपना भाई जानकर 'मिलेउ मुदित ।' निषाद से मिल लेने के बाद उसे उस भीड़ की चिन्ता न हुई जो उसके पास ही पछताता और विषाद कर रहा था। कारण, उनसे वह भलीभाँति परिचित था। उनसे कुछ बातचीत करने की आवश्यकता उसे न था। मर्यादा तथा शुद्ध भक्ति का उपदेश वह अपने आचरण में दे रहा था और उस स्थिति में भी जता रहा था कि राम दशरथ के पुत्र ही नहीं प्रत्युत कुछ और भी हैं। बस वह राम रूप अमृत के पान में मग्न हो गया था। उसे किसी अन्य की क्या पड़ी थी जो उसकी सुधि लेता?

इसका भी तो विचार होना चाहिये ? या यों ही क्षेपक कह देने से सारी उलझन सुलझ जायगी ?

सुनिये—

अवध आजु आगमी एकु आया ।
करतल निरखि कहत सब गुनगन, बहुत न परिचौ पायो ॥
बूढ़ो बड़ो प्रमानिक ब्राह्मन संकर नाम सुहायो ।
सँग सिसु सिष्य, सुनत कौसल्या भीतर भवन बुलायो ॥

फिर आपके सामने एक 'शिशु-शिष्य' आ गया । क्या आप बता सकते हैं कि यह कौन है ? जाने दीजिये । अभी इस शिशु-शिष्य के सीखने-समझने के दिन हैं । अभी से उसके पीछे क्यों पड़ गये ? पर उस 'बूढ़ो बड़ो प्रमानिक ब्राह्मन' को हाथ से न जाने दीजिए । उनका नाम शंकर है 'शंकर' । उससे आपको पूरी मदद मिलेगी । उसकी कृपा से आपको उस सापथ का भी पता चल जायगा जिसे आप न जाने क्यों ऊपरी समझते हैं ।

अच्छा होगा, पहले शंकरजी की चोरी का जान लीजिये । ध्यान से सुनिये आप गिरिजाजी से क्या कह रहे हैं—

औरउ एक कहउँ निज चोरी । सुनु गिरिजा अति दृढ़ मति तोरी ॥
कागभुसुंडि संग हम दोऊ । मनुजरूप जानइ नहिं कोऊ ॥
परमानंद प्रेम सुख फूले । बीथिन्ह फिरहिं मगन मन भूले ॥

शंकर जी ज्ञानी ब्राह्मण ठहरे और कागभुसुंडिजी चाण्डाल पक्षी । फिर भला उनका साथ कहाँ तक निभ सकता था ? दोनों को प्रभु दर्शन की इच्छा हुई । एक ने तो 'बूढ़ो बड़ो-प्रमानिक ब्राह्मण' का रूप धारण किया और दूसरे ने काक पक्षी का । एक ने कौसल्या' जी को चकमा दिया तो दूसरे ने सीधे राम को ही अपना रूप दिखाया । काक भुसुंडि क्या किया करते थे, इसे भी देखलें—

जब जब राम मनुज तनु धरहीं । भक्त हेतु लीला बहु करहीं ॥
तब तब अवधपुरी मैं जाऊँ । बाल चरित बिलोकि हरषाऊँ ॥
जन्म महोत्सव देखउँ जाई । बरष पाँच तहँ रहउँ लोभाई ॥

जन्म-महोत्सव देखने के लिये एक बार 'मनुज' रूप धारण कर 'शंकर' का

माप दे दिया, पर प्रभु के साथ क्रीड़ा करने के लिये फिर वही पुराना काक रूप ग्रहण कर लिया। कारण, इसी में उन्हें यह सुभीता था—

लरिकाईं जहँ जहँ फिरहिं, तहँ तहँ संग उड़ाउँ।
जूठनि परइ अजिर महँ, सो उठाइ करि खाउँ॥

कागभुसुंडि जी की यह लीला देखकर शंकरजी ने अपना अलग मार्ग निकाला और किस सफाई से उनसे आगे बढ़ 'भवन के भीतर' पहुँच गये। वहाँ उनकी क्या दशा हुई, तनिक इसे भी देखें—

नखसिख बाल बिलोकि बिप्रतनु पुलक, नयन जल छाया।
लै लै गोद कमल-कर निरखत, उर प्रमोद न अमायो॥

किन्तु वह 'शिशु शिष्य' चुपचाप वहीं पड़ा पड़ा शंकर जी के इस अलौकिक प्रेम को ताड़ रहा है और अभी इतने से ही सन्तोष कर रहा है कि 'भयो सबको मनभायो।' उसके इष्टदेव अभी उसके सामने नहीं आये। हाँ, शंकर जी के प्रसाद से उसे राम-स्वरूप का साक्षात्कार हो गया। उसने राम को जान लिया।

वह 'शिशु-शिष्य' अथवा वह 'लघुवयस तापस' देवता या पक्षी नहीं प्रत्युत मानव है। उसे तो उस राम की चिन्ता है जो—

असुर मारि थापहिं सुरन्ह, राखहिं निज श्रुति सेतु।

अस्तु, वह उसी राम की बाट जोह रहा है और आहट पाते ही उसके लिये दौड़ पड़ा है।

परन्तु वह शिशुरूप को महत्त्व क्यों देता है? क्या इसका भी कुछ रहस्य है? हाँ, है। इसका रहस्य उसी के मुँह से सुन लीजिए। उसका कथन है—

जेहि सरीर रति राम सों, सोइ आदरैं सुजान।
रुद्रदेह तजि नेह बस, बानर भे हनुमान॥

यदि उसके इस कथन में कुछ सन्देह हो तो कृपया कागभुसुंडि के कहने पर ध्यान दीजिये और देखिये कि उसका वास्तविक पक्ष क्या है। कागभुसुंडि कहते हैं—

एहि तन राममगति मैं पाई। ताते मोहि ममता अधिकाई॥

जेहि तें कछु निज स्वारथ होई। तेहि पर ममता कर सब कोई॥

इतने से ही उन्हें सन्तोष नहीं होता। आगे और भी खुलकर किस तपाक से कहते हैं—

राम बिमुख लहि बिधि सम देही। कवि कोविद न प्रसंसहि तेही॥
रामभगति एहि तन उर जामी। ताते मोहि परम प्रिय स्वामी॥

यदि यह ठीक है तो अवश्य ही वह 'शिशु-शिष्य' अथवा 'लघुवयस तापस' वही तुलसीदास है जिसने अपने सम्बन्ध में स्वतः स्पष्ट कहा है—

बालपनेसूधे मन राम सनमुख भयो,
रामनाम लेत, माँगि खात टूकटाक हौं।
पर्‌यो लोकरीति में, पुनीत प्रीति रामराय
मोहबस बैठो तोरि तरकि तराक हौं॥
खोटे खोटे आचरन आचरत अपनायो
अंजनीकुमार, सोध्यो रामपानि पाक हौं।
तुलसी गुसाइँ भयो, भोंडे दिन भूलि गयो,
ताको फल पावत निदान परिपाक हौं॥

अब आप ही कहें, उसे 'बालपन' या 'लघुवयस' न प्रिय होता और क्या प्रिय हो। अन्य अवस्थाओं से तो उसे प्रेम नहीं बल्कि घृणा है। उन पर उसकी ममता किस प्रकार टिक सकती है? निदान हम देखते हैं कि वह इसी 'बालपन' को पसंद करता और समय समय पर इसी का उल्लेख भी करता रहता है।

विचार करने की बात है कि गोस्वामी तुलसीदासजी ने अपने को क्यों शिशु शिष्य के रूप में देखा है और शंकर जी को बूढे आगमी गुरु के रूप में। बात यह है कि वास्तव में गोस्वामी जी के सच्चे गुरु हनुमान जी अथवा स्वयं शंकर जी ही थे। गुरु की वन्दना में स्वतः गोस्वामी जी ने कहा भी है—

वन्दे बोधमयं नित्यं गुरुं शंकररूपिणम्।
यमाश्रितो हि वक्रोऽपि चन्द्रः सर्वत्र वन्द्यते॥

भाषा में भी इसी बात का निर्देश उन्होंने इस प्रकार कर दिया है—

बंदउँ गुरु पद कंज कृपासिन्धु नररूप हर* ।
महामोह तम पुंज जासु बचन रबि कर निकर ॥

'हर' के सम्बन्ध में गोस्वामी जी का कथन है—

जानि रामसेवा सरस, समुझि करब अनुमान ।
पुरुषा ते सेवक भये, हर ते भे हनुमान ॥

अस्तु, हम देखते हैं कि हनुमान जी की प्रार्थना में गोस्वामी जी इस तथ्य का स्पष्ट-निर्देश करते हैं कि—

जानत जहान हनुमान को निवाज्यौ जन
मन अनुमानि, बलि, बोल न बिसारिए ।

हनुमान का यह अनुकम्पा कितनी पुरानी है, कुछ इसका भी तो विचार करें—

बालक बिलोकि बलि, बारे तें आपनो कियो,
दीनबंधु दया कीन्ही निरुपाधि न्यारिये ।

निदान हमें मानना पड़ता है कि गोस्वामी तुलसीदास जी ने 'मानस' तथा 'गीतावली' में स्वतः अपने आप ही को 'तेजपुंज लघुवयस तापस' एवं 'शिशु-शिष्य' के रूप में अंकित किया है और इस बात का प्रत्यक्ष दिखा दिया है कि—

निज इच्छा प्रभु अवतरइ सुर महि गो द्विज लागि ।
सगुन उपासक संग तँह रहहिं मोच्छ सब त्यागि ॥

साथ ही—

तात यह तन माहि प्रिय, भयउ रामपद नेह ।
निज प्रभु दरसन पायउँ, गए सकल संदेह ॥

हाँ तो गोस्वामी तुलसीदास की इस प्रवृत्ति को भलीभाँति हृदयंगम करने के लिये यह आवश्यक है कि सूरदास का भी कुछ अध्ययन कर लिया जाय और उनके इस सूक्त को पाठकों के सामने रख दिया जाय जिसमें

---

* वास्तव में शुद्ध पाठ यही है। 'हर' और 'हार' के विभेद की चर्चा हम फिर कभी करेंगे। 'नरहरि' के आग्रह से 'हर' का 'हरि' समझ लेना ठीक नहीं। तुक तो 'निकर' से 'हर' की ही ठीक बैठती है।

उन्होंने अपने को 'ढाढी' कहा है। सो सूरदास का काम ही था कीर्तन करना। वल्लभाचार्य ने उन्हें यही काम सौंपा भी था। फलत: इसी में उन्हें ब्रजविहारी की दिव्य झाँकी दिखाई देती है। उनका आग्रह भी है—

दीजै मोहिं कृपा करि सोई जो हौं आयो माँगन।
जसुमति सुत अपने पायँन जब खेलत आवै आँगन॥
जब तुम मदनमोहन करि टेरो इहि सुनिकै घर जाऊँ।
हौं तो तेरो घर को ढाढी सूरदास मेरो नाऊँ॥

सूरदास सामान्य ढाढी नहीं है। देखिये न—

जाको नेति नेति श्रुति गावत तेइ कमलपद धाऊँ।
हौं तेरो जन्मजन्म को ढाढी सूरदास कहि गाऊँ॥

इतने पर भी यदि किसी को हमारे उक्त निष्कर्ष में सन्देह हो तो उसे अच्छी तरह समझ लेना चाहिये कि यह काव्य और भाव का क्षेत्र है, तर्क अथवा हेतुवाद का नहीं। जब भक्त के भगवान् नित्य और एकरस हैं तब उनकी नित्यता और एकरसता में सदेह क्या? आखिर मानव जीवन की इति कहाँ होगी? कुछ इसका भी पता है? जो हो तुलसीदास की तो स्पष्ट घोषणा यह है—

रामराज भइ कामधनु महि सुख सपदा लोक छाए।
जनम जनम जानकीनाथ के गुनगन तुलसीदास गाए॥

बस, हम तो इसी 'जनम जनम' का प्रमाण मानते हैं कुछ और नहीं।

९—सोरों की तुलसी-सामग्री

गोस्वामी तुलसीदास की रचनाओं को क्षेपकों से मुक्त करने की बात चल ही रही थी कि उनकी जीवनी भी क्षेपकों में लग गई और न जाने कितने महानुभाव उन की जीवनी की पेटी हाथ में लेकर आए और शोध के क्षेत्र में बढ़ बढ़ कर हाथ दिखाने लगे। परंतु सच पूछिए तो इस क्षेत्र में जैसा ऊधम सनाढ्य-सोरों-आंदोलन ने मचाया वैसा किसी अन्य ने नहीं।

सोरों-संबंधी सामग्री जनता के सामने आ चुकी है। उस की छान-बीन भी कुछ हुई है। फलतः हिंदी साहित्य सम्मेलन के प्रतिनिधि श्री माताप्रसाद गुप्त का निष्कर्ष है—

"इस कुल सामग्री का एक सामान्य परिचय प्राप्त कर लेने के अनंतर अब हमें उस की प्रामाणिकता के संबंध में विचार करना चाहिए।

"(१) जब हम उपर्युक्त बालकांड की प्रति की प्रामाणिकता के संबंध में विचार करने लगते हैं तो हमें नीचे लिखी बातें खटकती हैं—

"(अ) पुष्पिका की अंतिम पंक्ति और अंत से दूसरी पंक्ति के बीच में एक छोटी खड़ी रेखा इस प्रकार खींची हुई है कि उससे जान पड़ता है कि पुष्पिका उस के ऊपर ही समाप्त हो गई थी, और फलतः उस के नीचे वाली पंक्ति अर्थात् अब इस अंतिम पंक्ति के नीचे तीन छोटी खड़ी रेखाएँ एक दूसरे के समानांतर संभवतः यह प्रकट करने के लिए खींची गई हैं कि यह पंक्ति ऊपर वाली रेखा को समाप्ति-सूचक न माना जावे। इस से यह बात और भी प्रकट हो जाती है कि पुष्पिका की समाप्ति पहले वाली खड़ी रेखा पर ही हो चुकी है।

"(ब) अंतिम पंक्ति की लिखावट का प्रति और पुष्पिका की लिखावट से पूरा पूरा मेल नहीं खाती, दोनों में शैली, गति, अक्षरों के आकार, शिरोरेखा, सफाई और समाप्ति की ओर पहुँचते हुए पंक्ति में अक्षरों की गति में अंतर ज्ञात होता है, यद्यपि अक्षरों के बीच के फासले और उनकी

बनावट में स्पष्ट दिखाई पड़ता है। इन लिखावटों का मिलान गोलाई और तन की दृष्टि से इस लिए नहीं किया जा सकता है कि अंतिम पंक्ति में अक्षरों के ऊपर स्याही फेर कर उन्हें बिगाड़ दिया गया है।

"(स) अंत से दूसरी पंक्ति में प्रतिलिपि की जो तिथि दी हुई है उसकी लिखावट में बड़ी अस्वाभाविकता जान पड़ती है। ६ और ४ के बीच में इतनी जगह छूट जाती है कि यदि स्वाभाविक रीति से लिखा जाता तो उतने स्थान में एक और अंक सरलतापूर्वक लिखा जाता। फिर 'शाके' और '१५०८' के बीच में तो इतना अंतर छोड़ दिया गया है कि उसमें दो अंक अवश्य आ सकते थे यदि यह शब्द कृमि द्वारा परक्षवि के पूर्व लिखे गए होते।

"(२) जब हम अरण्यकांड वाली प्रति की पुष्पिका पर विचार करने लगते हैं, तब हमें उसको प्रामाणिक मानने में निम्नलिखित अड़चनें पड़ती हैं—

(अ) 'श्री तुलसी' से लेकर 'अंतिम इति' तक की लिखावट शेष प्रति और पुष्पिका की लिखावट से शैली, गति और अक्षरों के विषय में भिन्न ज्ञात होती है, यद्यपि वह गोलाई और तन, अक्षरों के बीच के फासले, और पंक्ति की सीधाई के संबंध में एक सी जान पड़ती है। 'क', 'ह', '१', और '६', की बनावट में और इकार की मात्रा की बनावट में भी दोनों अंशों में कुछ अंतर ज्ञात होता है।

(ब) संवत् के '१६४ इस प्रकार पुनर्निर्मित हैं कि वे पंक्ति के अन्य भागों और अंकों की अपेक्षा बहुत बड़े हो गए हैं। उनकी इस अस्वाभाविक स्थिति को देख कर जान पड़ता है कि संभवतः किन्हीं दूसरे अंकों को बिगाड़ कर उनका निर्माण किया गया है।"[१]

अस्तु, श्रीगुप्त जी का साराश यह है कि पुष्पिका का वह अंश जाली है जो नंददास और तुलसीदास में संबंध स्थापित करता है और प्रकारांतर से गोस्वामी जी को सोरोंवासी ठहराता है। अच्छा होता यदि गुप्त जी का ध्यान उसके पाठ की ओर भी गया होता और उनकी मीमांसा कुछ पुष्पिका के विषय पर भी हुई होती। पुष्पिका में जो कुछ लिखा गया है वह भी कुछ

इसमें तो विवाद की बात नहीं कि पुष्पिका के दो खंड हैं, जिनमें से प्रथम खंड का संबंध तो प्रकृत ग्रंथ से है, और दूसरे का लिपिकर्त्ता तथा कृष्णदास से। अब यदि दोनों पुष्पिकाओं के प्रथम खंडों की तुलना करें तो उनका भेद खुले। और तो और, दूसरी पुष्पिका में ग्रंथ का नाम तक बदल गया है और उसमें और भी बहुत सी बातें आ गई हैं। निश्चय ही यह तुलसीकृत 'मानस' की पुष्पिका नहीं है। यह तो बाद की कल्पना प्रतीत होती है। जो हो, इसके बाद जो कुछ लिखा गया है वह भी किसी विशेष दृष्टि से ही लिखा गया है। ध्यान देने की बात है कि बालकांड की पुष्पिका से यह सिद्ध नहीं होता कि नंददास पुत्र कृष्णदास तुलसीदास के कौन थे। निदान अब उसीको सिद्ध करने के हेतु उनके 'भ्राता सुत' की रचना हुई है। भाषा की दृष्टि से देखिए तो पता चले कि पुष्पिका में पछाहीं रंग कितना है। सच बात तो यह है कि सारा-विधाता को किसी प्रकार तुलसी और नंददास की तुक बिठानी है सो इन पुष्पिकाओं से वह बैठ ही जाती है, फिर किसी अन्य बात की चिंता क्यों हो! संभव है इस कृष्णदासी प्रति के शेष कांड भी कहीं से निकल पड़ें, और उनकी पुष्पिकाओं से तुलसीवंशावली मिल जाय! परंतु जब तक ऐसा चमत्कार नहीं होता तब तक यही मानना साधु प्रतीत होता है कि यह सनाढ्य-सोरों-आंदोलन का कुफल है कि ऐसी गढ़ंत पुष्पिका प्रमाण कोटि में धरी गई है और प्रकट सत्य पर स्याही फेरने का प्रयत्न किया गया है।

पते की बात तो यह है कि 'सोरों' को उतनी ही सामग्री प्राप्त होती है जितनी से उक्त आंदोलन का संबंध है गोस्वामी तुलसीदास की रचना तो पूरी नहीं मिली किंतु उसके दो कांडों की ऐसी प्राप्ति हो गई कि उनकी मनमानी पुष्पिकाओं से अपना अर्थ निकल आया। ठीक यही दशा नंददास के 'भ्रमर-गीत' की भी है। पूरी पोथी तो देखने में नहीं आई पर उसके दो पन्ने प्रस्तुत हो गए और उसकी पुष्पिका में लिखा गया—

"...भ्रमरगीत सम्पुरनम्... ...त नन्ददास भ्राता तुलसीदास का स्याम सर वासी सोरों जी मध्ये लिखित कृष्णदास सिष्य बालकृष्ण आज्ञानुसार गुरु कृष्णदास बेटा नन्ददास नाती जीवाराम के शुक्ल स्यामपुरी सनाढ्य

तुलसीदास के भाई, अष्टछाप के कवि तथा श्यामपुर के वासी है ? यही नहीं, क्या उनमें कृष्ण-भक्ति की वह कट्टरता है जो वार्ता के पद पद में बोलती और रामपुर को श्यामपुर में परिणत करने के हेतु उन्हें बाध्य करती है ? पंथाई कुछ भी कहते रहें, पर हम तो ऐसा नहीं समझते। नाभादास के नंददास कट्टर और संकीर्ण नहीं प्रत्युत उदार और 'भक्त पद रेनु उपासी' हैं।

हाँ, इसमें संदेह नहीं कि वार्ताकार ने नंददास को तुलसीदास का छोटा भाई माना है, पर यह भी झूठ नहीं कि उसकी दृष्टि में नंददास 'पूरब' में रहते थे। काशी जी में तुलसी-गुफा के साथ ही साथ नंददास की भी गुफा है। अतएव हमें वार्ता के कथन पर पूरा विचार करना चाहिए और उसे योंही सोरों के रामपुर का समर्थक नहीं मान लेना चाहिए। सोरों सामग्री कहती है कि नंददास ने 'रामपुर' को श्यामपुर बना दिया, किंतु वार्ता कहती है (?) कि वे 'रामपुर' में रहते थे। उसमें कहीं 'श्यामपुर' का संकेत नहीं है। सीधी बात तो यह है कि 'वार्ता' भी सनाढ्य-सोरों आंदोलन के पक्ष में अंशतः ही है। 'श्यामपुर' की लीला से उसका मेल नहीं। कहा जा सकता है कि नंददास 'रामपुर' से जाकर काशी में कुछ दिन तक तुलसी के साथ रहे हों, और फिर वहां (पूरब) से ब्रज में पहुँचे हों। ठीक है, पर रत्नावली' का यह संदेश कब और कहां मिला कि उसने कह दिया—

मोहि दीनो संदेश पिय, अनुज नंद के हाथ।
'रतन' समुझि जनि पृथक मोहि, जो सुमिरति रघुनाथ॥

दूसरे यहां भी तो 'अनुज' की पिछाड़ी लगी है। तो क्या अनुज नंददास रत्नावली की ओर से भाई को मनाने गए थे, अथवा वार्ता के अनुसार उनके साथ भक्ति जगा रहे थे ?

अच्छा, तो रत्नावली के प्रसंग को ध्यान से सुनें। उसके बहुत से दोहे प्रकाश में आ चुके हैं जिनमें से एक है—

अगिनि तूल चक्मक दिया, निसि महँ धरहु सम्हारि।
रत्नावलि जन का समय, काज परै लेउ बारि॥

इस पर एक प्रोफेसर साहब का वक्तव्य है—

"रत्नावली के समय में दियासलाई नहीं थी। चकमक पत्थर के टुकड़े

बरानर रहा करते थे। यहाँ 'चकमक' शब्द का प्रयोग यह बता रहा है कि दोहा कम से कम दियासलाई के प्रचार से पहले का रचा गया है।" १

निवेदन है जी नहीं। आप को धोखा हुआ। प्रस्तुत दोहे में चकमक' और तूल' तो अवश्य हैं पर वह विधान कहाँ है जिससे पता चले कि दोहे का रचयिता उक्त विधि से अभिज्ञ है। जब 'अगिनि' है ही तब 'चकमक' और तूल' की क्या आवश्यकता? 'दिया' का तो आग से जला लिया जायगा। यदि कहो कि अगिनि' के अभाव में 'चकमक' काम देगा तो वह लौह कण जो चकमक से आग निकालेगा, और तूल में उसे लगा देगा। याद रहे उस समय का दोहा है--

लहँ लोह पाहन दारू, बीच रुई जरि जाय।

न कि--

अगिनि तूल चकमक दिया, निसि महँ धरहु सम्हारि।

, यह तो प्रत्यक्ष ही माया है, जो ठगने के लिए इस प्राचीन कलेवर में प्रकट हुई है। कर्ता ने 'चकमक' और तूल' का नाम सुन तो लिया है पर उस के विधान से पूरा अभिज्ञ नहीं।

बात की सचाई के लिए एक दूसरा दोहा लीजिए। रत्नावली कहती है--

धिक मो कहुँ सो बचन लगि, जो पति लह्यो विराग।

भइ वियोगिनि निज करनि, रहूँ उड़ावत काग॥

यह काग उड़ाने' की बात भी एक ही रही। स्त्रियाँ काग उड़ाती हैं यह जानने के लिए कि उन का परदेशी प्रिय कब आ रहा है, न कि इस लिए कि उन का वैरागी प्रिय अपना वैराग तोड़ कर फिर कब घर बार में फँस रहा है। सो भी इस में धिक्कार की बात क्या है? धिक' की तुक तो तब बैठती जब पति के क्लेश या सताप की बात उठती। जब यह कुछ भी नहीं है तब 'काग उड़ाने' का माहात्म्य क्या? आँसू निकालने के लिये तो बनता नहीं है कि उसे बार बार उड़ाना पड़ता है। बार! यह तो साफ बनक है! असल की इसम बू कहाँ?

रत्नावली के दोहे ये प्रमाण हैं कि उनके रचयिता में हृदय या प्राण

१ 'हिन्दुस्तानी एकाडमी, इलाहाबाद, सन१९३९, पृ० ३००।

नहीं है, वह तो नीति और व्याकरण का शुष्क पद्दित मात्र है। संस्कृत साहित्य मे उसकी कितनी गति है इसका पता उस तालिका से चल जाता है जो उसके संपादक श्री रामदत्त भारद्वाज की कृपा से उसके अंत में 'आधार-वचन' के रूप में प्राप्त है। प्रतीत होता है कि रचयिता के सामने 'नाना पुराण निगमागम' का आदर्श है, और पत्नी भी पति के आदर्श मे मग्न है, परन्तु विचार करने से स्पष्ट व्यक्त हो जाता है कि जहाँ पति व्याकरण में कच्चा है वहाँ पत्नी व्याकरण में पुष्ट। रत्नावली के इस व्याकरण-प्रेम का कारण 'रत्नावलीचरित' में कहा गया है—

> बालकपन सों गेह काज, सीखि गई सब पाक साज।
> निज भ्रातनु सों पढतीं देखि, आपहु आँखर पढ़त लेखि।
> प्रखर बुद्धि तिहि जनक जानि, पाटी बुधिका दयो लानि।
> कछुक दिननु महँ भई जाग, कहहिं सरसुति ताहि लाग।
> पुनि व्याकरनहुँ पितु पढाइ, दीनो कोषहु तेहि धुकाइ।
> वाल्मीकि पुनि पढ़न लागि, गई भारती तासु जाग।
> पिंगल के कछु अंग जानि, काव्य करन की परी बान।[१]

निदान हम देखते हैं कि रत्नावली 'पिंगल' और 'व्याकरण' के सहारे ऐसी नीरस और भग्न रचना कर जाती है कि कुछ कहते नहीं बनता। देखिए तो सही, उसका काव्य है—

> सवरन स्वर लघु द्वे मिलत दीरघ रूप लखात।
> रतनावलि अवसरन द्वै, मिलि निज रूप नसात ॥ १८३ ॥
> जो जाको करतब सहज रतन करि सकै सोइ।
> बाबा उचरतु ओठ ही हा हा गल सों होइ ॥ १८५ ॥

रत्नावली को नीति की शिक्षा कहाँ मिली इसकी चर्चा 'रत्नावलीचरित' मे नहीं मिलती पर इतना निर्विवाद है कि उसके अधिकांश दोहे नीति के ही हैं। सो भी कैसे, तनिक इसे भी देख लें। वह कहती है—

> करमचारि जन सों भली जथा काज बतरानि।
> बहु बतानि रतनावली गुनि अकाज की खानि ॥ ७९ ॥

---

[१] 'तुलसीचर्चा', पृ १३१ ३७।

सीख तो समय की है, किंतु 'करमचारि' का संकेत क्या है? वह और भी खुल कर समझाती है—

घरि धुवाइ रतनावली निज पिय पाट पुरान ।
जथा समय जिनें दै करहु करमचारि सनमान ॥ ९७ ॥

तो क्या 'करमचारि' का प्रयोग 'कमकर' के अर्थ में हुआ है? यदि नहीं तो इस का इतिहास क्या? मूल में तो 'भृत्य' और 'परिचारक' का ही प्रयोग है, कुछ 'कर्मचारी' का नहीं। तो क्या रत्नावली (?) को 'कर्मचारी' का ठीक संकेत नहीं रहा जो उसे उसने 'भृत्य' अथवा कर्मकर के लिए प्रयुक्त कर दिया, अथवा उसके मस्तिष्क में कुछ और ही घूम रह था? कर्मचारी का अर्थ क्या?

रत्नावली के छाया दोहों के साथ अधिक उलझना ठीक नहीं। उसका निजी मत है—

रतन रमा सी सुप सदन वनि सारद धरि ग्यान ।
पलन दलन हित कालिका वनि कर धारि कृपान ॥ ८६ ॥

किंतु शिक्षा वह किस से ले? रत्नावली कहती है—

जननि जनक भाता बड़ा होइ जु निज भरतार ।

कोई कुछ भी कहता रहे पर हमें तो यही सूझता है कि यह 'आर्य' शिक्षा का परिणाम है। यदि विश्वास न हो, रत्नावली के दोहों को चुन लीजिए और किसी पारखी से बिना बताए पूछ देखिए कि वे कब की रचना हैं, तो पता चले कि हमारा पक्ष क्या है।

पढ़ाने अथवा नीति के लटकों को अलग छोड़िए, और लीजिए उस प्रसंग का जिसके हेतु यह सब रचना रची गई है। रत्नावली को ज्योतिष की शिक्षा नहीं मिली किंतु सरस्वती की कृपा से दैवज्ञ हो गई, और अपने जीवन में ही भली भाँति ताड़ गई कि एक दिन ऐसा भी आएगा कि लोग उसे तथा उसके पति को सनाढ्य न मान कर कुछ और ही मानेंगे और उनके जन्म-स्थान को भी कहीं से कहीं टकरा देंगे। निदान उसने ऐसे दोहों की रचना कर डाली जो आज सनाढ्य-सोरों आंदोलन के प्राण हो रहे हैं और एक स्वर में साखी भर रहे हैं कि तुलसी कौन और कहाँ के थे। लीजिए वह ढोलपट्टी है कि—

प्रभु वराह पद पूज महि जनम मही पुनि एहि।
सुरसरि तट महि त्यागि अस गए धाम पिय केहि ॥ २२ ॥

प्रस्तुत दोहे में ध्यान देने की बात यह है कि इस में सोरों का महात्म्य तो गाया गया है पर कहीं यह नहीं बताया गया है कि वहाँ तुलसी के इष्टदेव राम का भी कुछ है। फिर रामभक्त तुलसी को यह प्रलोभन कैसा? कारण स्पष्ट है। इस दोहे का प्रकृत प्रसंग से कोई संबंध नहीं। यह तो यह सिद्ध करने के निमित्त गढ़ा गया है कि 'सूकरखेत' 'घाघरा-सरजू' के संगम का सूकरखेत नहीं है, वह तो सुरसरि तट का यही सोरों है और तुलसी का जन्म स्थान भी कहीं अन्यत्र नहीं, अपितु यही है। साधना के क्षेत्र में 'सूकरखेत' का चाहे जो महत्त्व बताया जाय पर जन्मस्थान तो उसमें सदा बाधक ही बताया गया है। अतएव हमारा निश्चित मत है कि यह दोहा उसी कामना का फल है जिस कामना का यह परिणाम—

एक पितामह सदन दोउ* जनमे बुधि रासी।
दोऊ एकहि गुरु नृसिंह बुध अन्तेवासी।
तुलसीदास नंददास मते द्वै मुरली धारे।
एक भजे सियराम एक घनश्याम पुकारे।
एक बसे सो रामपुर एक श्यामपुर महँ रहे।
एक राम गाथा लिपी एक भागवत पद कहे ॥ १ ॥
एक पिता के पूत दोऊ बलराम मुरारी।
मुरलि चक्र इक धरयो एक हल मूसलधारी।
नीलाम्बर तनु एक एक पीताम्बर धारो।
दोउन चरित उदार रह्यो मत न्यारो न्यारो।
इमि कर्तव रुचि मत प्रकृति जनजन की न समान जग।
जनमि एक हू यह गहैं निज स्वभाव अनरूप मग ॥ २ ॥

कहने की बात नहीं कि एक अति सामान्य बात के पोषण के लिए यह रचना केवल इस दृष्टि से हुई है कि लोग इस भुलावे में न पड़ें कि भाई होते हुए भी तुलसीदास और नंददास की उपासना भिन्न-भिन्न कैसे हो गई। परन्तु क्या 'पितामह' और 'पिता' की उपमा ठीक बैठी? साथ ही

इतना और भी टाँक लें कि यहा रामपुर श्यामपुर से अलग हो गया है। कारण सनाढ्य सारों लीला के अतिरिक्त और क्या हो सकता है? प्रस्तुत आक्षेप के निवारण के लिए तो तुलसी का 'एक पिता के विपुल कुमारा' ही पर्याप्त था। फिर यह रचना क्यों हुई? हमारे कहने का तात्पर्य केवल यह है कि सोरों-सामग्री वस्तुत समाधान के रूप में हमारे सामने आती है, कुछ साक्ष्य या तथ्य के रूप में नहीं।

सो, रत्नावली की सरल विज्ञप्ति है—

वैस वारहीं कर गह्यो सोरहिं गवन कराइ।
सत्ताइस लागत करी नाथ रतन असहाइ॥ ४१॥

सोरों की तो कह नहीं सकते पर सामान्यत विधि यही है कि 'गवन' विषम वर्ष (१, ३, ५) म ही होता है, कुछ सम वर्ष (२, ४, ६ .) में नहीं। यहा देखना यह है कि इस 'असहाइ करी' का रहस्य क्या है। प्रियादास कहते हैं—

तिया सो सनेह, बिनु पूछे पिता गेह गई,
भूली सुधि देह, भजे वाही ठौर आए हैं।
वधू अति लाज भई, रिसि सो निसरि गई,
प्रीति राम नई तन हाड़ चाम छाए हैं।
सुनी जब बात, मानो होइ गयो प्रात वह,
पाछे पछिताय, तजि 'काशीपुरी' धाए हैं।
कियो तहाँ वास, प्रभु सेवा लै प्रकाश कीनो,
लीनो दृढ भाव, नैन रूप के तिसाए हैं॥ ५०८॥

साथ ही इतना और भी जान लें कि—

करत बिचार वारि धार में न रहैं प्राण,
तातें भला धारि मित्र सनमुख जइयें।
परे कूदि नार, कछु सुधि न शरीर की है,
वही एक पीर कब दरसन पइयें।
पैरत न पार, तनु हारि भया बूड़िवे कों,
मृतक निहार, मानो नाव मानि भइयें।

रुकोई किनारे जाय, चले पग धाय चाप,
आए, पट लागे, निशि आधी सो विहाइयें ।
अजगर घूमि झूमि भूमि को परस कियो,
लियोई सहारो, चढ्यो छात पर जायके ।
ऊपर किवार लगे, परधो कूदि आँगन में,
गिरधो, यों गरत राग जागी सोर पाय के ।
दीन्हे नराइ, जो पै देखै, बिल्वमंगल है,
'बड़ोई अमंगल तू कियो कहा आय के ।"
जल धन्हवाय, सूखे पट पहिराय, 'हाय !
कैसें करि आयो जल पार द्वार पाय के ।'
'नौका पठाई, द्वार लाव लटकाई देखि
मेरे मन भाई, मैं ता तबै लई जानि के ।'
'चलो देखों अहा यह कहा धौं प्रलाप करे,'
देख्यौ विषधर महा, खीजि अपमानिकै ।
'जेता मन मेरे हाड़ चाम सों लगाया तेता
स्याम पै लगाय तापै जानियें सयानिकै ।
'मैं तौ भये भोर भजौ युगलकिशोर अब,
तेरी तुही जान चाहो करौ मन मानि कै ।।'

अस्तु, तुलसी और बिल्वमंगल के इस वृत्त का सामने रख कर अब 'रत्नावलीचरित के इस प्रसंग को पढ़े और देखें कि स्थिति क्या है । उस के विधाता श्री मुरलीधर लिखत हैं—

ब्याह भये दस पंच नप, इक दुप तजि गाते महप ।
राग आधन एक बार, भ्राता संग हिय हरप धार ।
पति आयसु गहि सोस नाइ, गई माइक सदन गाइ ।
इत तुलसी करिवे नहाइ गये सुमिरि उर अराम नाह ।
तुलसी ग्यारह दिन बिताइ, आये लेहि नुघर ।
रतनावलि मन लखन चाह, चले ससुर घर भारे उछाह ।
होनहार बरवान हात, जस भवितव तस ज्ञान होत ।

नारि प्रेम मद गये भोइ, चले समय को ज्ञान पाइ।
बीति गई तब अरध राति, नभ घन चपला चमकि जाति।
बहति जोर सुरधुनी धार, ताहि पैरि करि गये पार।
दीनबन्धु की पौरि जाय, टेरि दये घर के जगाय।
द्वारहि आये तबहि काल, तुलसिहि लखि भे चकित दयाल।
करि प्रनाम कहि कुशल बात, हां कहि तुलसी मन लजात।
करि आदर समयानुसार, पौढाये करि बहु दुलारि।
रत्नावलि एकान्त पाइ, पति दर्शन हित गई धाइ।
पति पद परसे करि प्रणाम, चरण दबावन लागि बाम।
पूछी किमि आए अबेरि, गरजत घन गाढी अधेरि।
कैसे उतरे गंगधार, मेरे जिअ अचरज अपार।

प्रिया की इतनी वाणी सुनते ही प्रेमी तुलसी भी बोल उठे—

इमि सुनि बोले तुलसिदास, तुमहिं मिलन अति उर उलास।
तुम बिन परत न मोहि चैन, भई शान्ति तब लखत नैन।
तव सुप्रेम महँ गंगधार, सुधुपि सहज ही भया पार।

इतने में ही रत्नावली की ज्ञानपिटारी खुल पड़ी और वह किस उल्लास के साथ बोली—

कहि रत्नावलि प्राननाथ, धन्य आप को मिल्यो साथ।
मेरे हित बहु दुख उठाइ, दरस दयो तुम नाथ आइ।
मो सम को बड़ भागि नारि, मो सम को तिय पतिहि प्यारि।
सीम प्रेम तुम करी पार, नाथ प्रेम के तुम अधार।
मम सुप्रेम निज हिये धार, उतरे प्रिय सुरसरित पार।
जग अधार यह प्रेम धार, जासु मनुज भव उदधि पार।
प्रेमहीन जीवन असार, नाथ प्रेम महिमा अपार।

इस मधुर भाषण का परिणाम यह हुआ कि—

सुनि रत्नावलि भव्य बानि, भव विषयनु सों भई ग्लानि।
भये चित्र सम तुलसिदास, कछु छन साचत मे उदास।

रत्नावलि पति नींद जानि, गई परसि पद जोरि पानि ।*

तुलसी की विराग-कथा को जो रूप दिया गया है, वह अवश्य ही परिमार्जित और विचित्र है। लेखक ने 'भवितव्यता' के भीतर सारी अड़चनों को समेट कर समीक्षा का मार्ग बंद कर दिया है, पर इससे होता क्या है! उस की पोल आप ही खुल जाती है। तनिक सोचने की बात है कि 'रत्नावली-चरित' में इस प्रसंग का इतना विस्तार क्यों दिया गया है, और क्यों उन्हीं बातों पर विशेष ध्यान दिया गया है, जिन से सोरों आंदोलन का पेट भरता है। तुलसी का काम तो इतने से ही चल जाता है—

पितुगृह कबहूँ, कबहुँ ससुरारी, रहेहु जहाँ रुचि होइ तुम्हारी।

किंतु वृद्ध कवि मुरलीधर को तो इसे खोल कर लिखना है कि—

कबहु रामपुर बसति जाइ, कबहु बदरिका रहति आइ।

सो भी तब जब तुलसी के होते हुए कहीं भी जाने का कभी कोई अवसर ही नहीं मिला और यदि १५ वर्ष के बाद मिला भी तो दैववश उसका चिर वियोग हो गया। विलक्षण! विचित्र!! तुलसी के साथ वह रामपुर में नहीं प्रत्युत सोरों में बसती है, किंतु वियोग होते ही वह सोरों का त्याग देती है और कभी ससुराल तथा कभी नैहर में रहती है। सो तो ठीक, परंतु इस का क्या उत्तर है कि वह स्वयं उस पुण्यदेश में नहीं रहती जिस के हेतु विरक्त तुलसी को आमंत्रित करती है। उस की सरस प्रार्थना है—

तीरथ आदि बराह जे तीरथ सुरसरि धार।

जाही तीरथ आइ पिय भयउ जगत करतार॥

कारण प्रत्यक्ष है। उत्तर के लिए कहीं दूर जाने की आवश्यकता नहीं। गोस्वामी तुलसीदास ने ठीक कहा है—

"आरत के चित रहत न चेतू, पुनि पुनि कहत आपने हेतू।"

कदाचित् यही कारण है कि 'रत्नावली-चरित' में सविस्तर यह लिखा गया है—

पितु तनया लखि ब्याह जोग, सोचहिं किन घर जातु भोग।

ढूँढ़ि फिरे सो बहुरि गाम, भई न पूरी मनोकाम।

* 'तुलसीचर्चा', पृ० १३५ ६

भये दुखित अति चित्त माहिं, सुता जोग वर मिलत नाहिं।
तबहिं मीत इक दई आस, गुरु नृसिंह के जाउ पास।
स्मारत वैष्णव सो पुनीत, सकल वेद आगम अधीत।
चक्रतीर्थ ढिग पाठशाल, तहीं पढावत विपुल बाल।
तहा रामपुर के सनाढ्य, मुकुल वंशधर द्वै गुनाढ्य।
तुलसिदास अरु नंददास, पढत करत विद्या विलास।
एक पितामह पौन दोउ, चन्द्रहास लघु अपर सोउ।
तुलसी आत्माराम पूत, उदर हुलासो के प्रसूत।
गये दोउ ते अमर लोक, दादी पोतहिं करि सशोक।
बसत जोग मारग समीप, विप्रवंश कर दिव्य दीप।
कहत रह्यो सो राम राम, रामोला हू तासु नाम।
गौर बरन विद्या निधान, विविध शास्त्र पंडित महान।
काव्य कला महँ सो प्रवीन, सकल दुर्गुनन सो विहीन।
सब विधि रत्नावली जोग, अति सुशील तनु रहित रोग। †

अच्छा होगा, कन्यापक्ष की तालिका भी आप के सामने आ जाय। कहते हैं—

जाहिं बदरिका गाम धाइ, विविध जाति जन बसे आइ।
बसतु तहा बर विप्र एकु, धारतु निगमागम विवेकु।
दीनबंधु पाठक सुनाम, ईशभक्त बहु गुनन ग्राम।
उपाध्याय की धरत वृत्ति, निरत कर्म षट सुकृत कृति।
तासु दयावति नाम वाम, पतिव्रता गुन शील धाम।
दोउ प्रगटे पुत्र तीन, शिव, शंकर शभू प्रवीन।
तनया रत्नावलि कनीन, पति पितु कुल जिन पून कीन।

संभव है कि 'ईशभक्त' एवं 'शिव, शंकर, शंभू' के सहारे यह संकेत कर दिया गया हो कि कन्यापक्ष वास्तव में शैव था और इसी शैव-संयोग का परिणाम था कि वैष्णव तुलसीदास ने शिव के महत्त्व को स्वीकार किया और अपने इष्टदेव को भी शिवभक्त बना दिया।

† 'तुलसीचर्चा', पृ० १९२

हाँ, तो रत्नावली के पिता 'पाठक है और उनकी 'वृत्ति' 'उपाध्याय' है। दीनबंधु पाठक अध्यापन का काम करते थे और अपने ग्राम बदरिया में रहते थे।

अच्छा, तो अब देखिए कि घटना कैसी अनोखी घट रही है। 'ढिंढोरा शहर में लड़का बगल में' की बात तो आपने भी सुनी होगी, परंतु कभी इस पर ध्यान नहीं दिया होगा कि यह यहां भी संभव है। कहते हैं कि बदरिया और सोरों में—दीनबंधु और नृसिंह में—गंगा मात्र का अंतर था फिर भी 'उपाध्याय' दीनबंधु पाठक को गुरु नृसिंह के शिष्यरत्न का पता नहीं। पता हो भी कैसे! पंडित मुरलीधर को तो तुलसी कुल का सारा पँवारा गाना और यह भी बताना है कि उनकी माता का नाम 'हुलासो' है, जो परलोक सिधार चुकी हैं। तो क्या यह सोरों की प्रथा है कि वर की माता का नाम भी कन्यापक्ष को बताया जाय अथवा सोरों की भूल है कि तुलसी उसी के सिद्ध हो? हम तो जितना ही इस प्रसंग पर विचार करते हैं, इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सोरों की चाट ठीक नहीं। यदि आप इस विचार के विरोधी हैं तो अपने पक्ष को स्पष्ट करें फिर पता चले कि तथ्य क्या है और किस आधार पर आप उस प्रमाण-कोटि में रखते हैं। रही हमारी बात, सो हम तो सभी दृष्टियों से उसे आधुनिक और एक भाडी रचना मानते हैं। अतः उस का प्रमाण मानना अपने अज्ञान का प्रमाण देना है, सत्य का पक्ष लेना कदापि नहीं।

'रत्नावलीचरित' की उक्त प्रवृत्ति पर दृष्टि रखते हुए देखिए कि रत्नावली के निम्न दोहों का ध्येय क्या है—

> जनमि बदरिका कुल भई, हौं पिय कंटक रूप।
> बिधत दुखित ह्वै चलि गए, रतनावलि उर भूप ॥ २॥
> हाट बदरिया बर्न भई हौं बामा बिष बलि।
> रतनावलि हो नाम की रसहि दियो बिस मेलि ॥ ३॥
> दीनबंधु कर घर पली, दीनबंधु कर छाह।
> तौउ भई हौं दीन अति पति त्यागी मा बाँह ॥१६॥
> सनक सनातन कुल सुकुल गेह भयो पिय स्याम।

रत्नावलि आभा गई तुम निज जन सम गाम ॥१७॥
जासु दलहि लहि हरषि हरि हरत भगत भव रोग।
तासु दास पद दासि है रतन लहत फल साग ॥२५॥
सागर परस सबी रतन सवत भो दुपदाइ।
पिय वियोग जननी मरन करन न भूल्यो जाइ ॥४२॥

अवतरण की मात्रा बढाने से कोई लाभ नहीं। 'पुनि पुनि कहत आपने हेतु' में सदेह का नाम नहीं। यह तो ध्रुव सत्य है कि इस-माया का लक्ष्य है 'सारों' की प्रतिष्ठा। स्मरण रहे, इन दोहा के विषय में श्री मातापसाद गुप्त की साखी है—

'मैं स्वय प० भद्रदत्त ही से मिला था। इस सबध मे प्रश्न करने पर मुझे उनसे ज्ञात हुआ कि उन्हें भी प्रेस के लिए यह प्रतिलिपि प० गोविंद वल्लभ भट्ट से प्राप्त हुई थी। उन्होंने स्वत. यह प्रति तैयार नहीं कराई थी। मैं प० गोविंदवल्लभ भट्ट से भी मिला था। इस सबध में उन से प्रश्न करने पर मुझ से भट्ट जी ने कहा कि प्रेस के लिए वह प्रतिलिपि एक प्राचीन हस्तलिखित प्रति से कराई गई थी, जो उनके पास थी, पर उसे वह देहरादून या हरद्वार छोड़ आए थे।

'इस 'दोहा-रत्नावली' की विशेषता यह है कि इस म हमें वे सभी दोहे तो मिलते ही हैं जो रत्नावली लघु दोहा सग्रह' में मिलते हैं साथ ही ९० और भी ऐसे दोहे मिलते हैं जो 'लघु दोहा सग्रह' में नहीं हैं और इन ९० दोहा में हमें गोस्वामी जी और उन की स्त्री के जीवन से सबध रखने वाली बहुत सी ऐसी सामग्री मिलती है जो अन्यत्र नहीं मिलती।"

क्या इससे यह स्वय सिद्ध नहीं हो जाता कि दोहों की रचना किस दृष्टि से हो रही है, और उस का मूल स्रोत कहा है? फिर भी सोरों-सामग्री की उपेक्षा नहीं हो सकती क्योंकि वह सुरसा की भाँति अपना 'बदन' बढती और अद्भुत रूप दिखाती जाती है।

अत में 'दोहा रत्नावली' का दर्शन हो ही गया, और सो भी उर्दू की सजीली लिपि के साथ, किंतु परिचित आँखों का बयान है कि यह भी एक अपूर्व लीला है। यहा भी श्री गुप्त जी का कदाचित् यही कहना होगा कि—

"जब हम 'सूकरक्षेत्र माहात्म्य भाषा' (दोहा रत्नावली) की प्रति की जाँच करते हैं तो हमें जो बात खटकनेवाली मिलती है वह है उस के प्रत्येक शब्द का दूसरे शब्द से अलग लिखा जाना, प्रत्येक शब्द में आने वाले अक्षर एक शिरोरेखा के नीचे लिखे गए हैं, और इन्हें प्रत्येक दूसरे शब्द के अक्षर समूह से अलग रक्खा गया है। प्रति का लिपि-काल सं० १८७० (१८२८) दिया गया है। इस समय के लगभग की एक भी ऐसी अन्य प्रति मेरे देखने में नहीं आई है जिस में उपर्युक्त लेखन-शैली बरती गई हो।"

इस 'लेखन-शैली के प्रसंग में इतना और भी जोड़ देना है कि 'दोहा रत्नावली के अंत (पृ०१४६-७) में जो—

"मालिक ईं किताब मुंशी माधवराय कायस्थ सक्सेनः साकिन शहर बदायूँ"
مالک این کتاب منشی مادھو راے کایستھ سکسینہ ساکن شہر بداؤں

लिखा गया है वह भी आधुनिक और संदिग्ध प्रतीत होता है। 'ध' और 'श' जैसे हिंदी अक्षरों की निश्चित योजना के साथ ही लिपि की सुघरता भी विचारणीय है। समझ में नहीं आता कि 'दोहा रत्नावली' जैसी भाषा-पुस्तक पर इन विलायती अक्षरों की आवश्यकता क्यों पड़ी! पुष्पिका में स्पष्ट कहा गया है—

लिषितम् गोपालदासेन मुंशी माधौ राइ निमित्तम्

रत्नावली के दोहे में फिर भी कुछ बुद्धि से काम लिया गया है। उस में कोई बात प्रसंग के बाहर की नहीं कही जा सकती। किंतु कृष्णदास-कृत 'सूकरक्षेत्र-महात्म्य' एवं 'उपफल' की रचना तो और भी विचित्र है। सूकरक्षेत्र में कहा गया है—

सुनि जाते वराह मृदु बानी, सुनहु धरनि तुम परम सयानी।
छेत्र सौकरव वेद बखानो, मुक्ति मुकति दायक तेहि जानो।
जल बूड़ी लषि तुमहिं दुलारी, कहाँ रसातल सों उद्धारी।
जहाँ निपगा देखि सुहावै, सोई सौकर क्षेत्र कहावै।
जोजन पाँच तासु बिस्तारा, जहँ निज रूप बराह पसारा।

माना कि कृष्णदास की इसी वाणी को पुष्ट करने* के विचार से उस के लेखक दिग्सहाय कायस्थ ने अपनी प्रतिलिपि में श्री मुरलीधरकृत 'जय जय

आदि वराह छेत्र तनभूमि सुहावनि' भी लिख दिया, परंतु उसे क्या पड़ी थी कि उसी साँस में यह भी कह गया कि 'एक पितामह सदन दोउ जनमे बुधिरासी, दोऊ एकै गुरु नृसिंह बुध अंतेवासी।' इतना ही नहीं उसे उसी क्रम में यह भी कहना पड़ा—

सूकरखेत समीप सुचि गाम रामपुर एक।
तहं पंडित मंडित लसत सुकुलवंश सविवेक।
पंडित नारायण सुकुल तासु पुरुष परधान।
धार्यो सरन सनाढ्य पद है तप वेद निधान।
सस्त्र सास्त्र विद्या कुसल भे गुरु द्रोण समान।
ब्रह्मरध्र निज भेदि जिन पाया पद निर्वान
तेहि सुत गुरु ज्ञानी भये भक्त पिता अनुहारि।
पंडित श्रीधर सेषधर सनक सनातन चारि।
भये सनातन देवसुत पंडित परमानंद।
व्यास सरिस वक्ता तनय जासु सच्चिदानन्द।
तेहि सुत आत्माराम बुध निगमागम परवीन।
लघु सुत जीवाराम भे पंडित धरम धुरीन।
पुत्र आत्माराम के पंडित तुलसीदास।
तिमि सुत जीवाराम के नंददास चंदहास।
मथि मथि वेद पुरान सब काव्यसास्त्र इतिहास।
रामचरितमानस करयो पंडित तुलसीदास।
बल्लभकुल वल्लभ भये तासु अनुज नंददास।
धरि वल्लभ आचार जिन रच्यो भागवत रास।
नंददास सुत हीं भयो कृष्णदास गतिमंद।
चंदहास बुध सुत अहै निरजीवी ब्रजचंद॥

मौज की बात तो नहीं पहते पर विवेक का अनुरोध यही है कि यह विलक्षण लीला है कि कृष्णदास-कृत 'सूकरक्षेत्र माहात्म्य' के मध्य में श्री मुरलीधर की निराली रचना आ जाय और फिर उसके उपरांत कृष्णदास की वंशावली आ जाय। जिज्ञासुएँ कायस्थ भी अजीब कायस्थ है कि अपना

नाम भी ठीक-ठीक नहीं लिख पाता। मूल को देखें तो पता चले कि उसने अपने आपको किस प्रकार 'शिव' या 'सिव' के मध्य उलझा रखा है—जैसे उसे हस्ताक्षर करना ही नहीं आता। आता भी कैसे ? अपना हाथ भी तो हो ?

'पंडित' और 'इतिहास' शब्द के प्रयोग पर विशेष ध्यान न भी दें तो भी आपको यह बताना ही पड़ेगा कि जब तुलसीदास और नंददास के पिता तथा पितामह का उल्लेख हो ही गया तब नंददास को 'तासु अनुज' कहने की आवश्यकता क्यों पड़ी। वह तो तुलसी के कोई सहोदर भी न थे। दूसरे नंददास के संप्रदाय पर इतना ध्यान दिया गया कि श्रीवल्लभाचार्य का दो बार उल्लेख हुआ परंतु तुलसीदास के संप्रदाय का पता भी नहीं। यही नहीं, 'चंदहास' के पुत्र का तो नाम आ गया परंतु उनकी कोई करनी सामने न आई। स्मरण रहे, सोरों की समग्र सामग्री इस विषय में मौन है कि चंदहास में कौन सी बात ऐसी थी जिसकी प्रेरणा से नाभादास ने नंददास के परिचय में उनका उल्लेख किया। हाँ, पालतू 'बुध' से आप की शंका नष्ट नहीं होती अपितु और भी मुखर हो जाती है कि 'बुध' का यह कोरा प्रयोग कैसा ? इसी कारण चंददास तो भक्तमंडली में ख्यात होने से रहे। हां, नंददास के भाई भले ही मान लिए जायँ। तो क्या वंशावली भी जाली है ? उत्तर सनाढ्य-सोरों-आंदोलन के मुँह से सुनना चाहते हैं और लगे हाथों यह भी स्पष्ट कह देना चाहते हैं कि कृष्णदास का 'वर्षफल' भी इसी खेत की मूली है। उसमें भी चंददास को कुछ और नहीं केवल 'बुधवर' मात्र कहा गया है। हां, 'अनुज' अवश्य है। देखिए—

> तात अनुज चंदहास बुधवर नरदेसहि धारि।
> लिख्यौ जथामति वर्षफल बाल बोध संचारि ॥ २५ ॥*

वर्षफल के अंत में जो दो कवित्त हैं उनकी महिमा अपार है पर यहां उनका कोई महत्व नहीं। हां, रत्नावली' वा सोरों के गोरखधंधे में उनका हाथ अवश्य है। प्रथम कवित्त का मूल लक्ष्य है यह बताना—

> जाही धाम रामपुर स्याम सर कीने तात,
> स्यामापन स्यामपुर वास सुखदाई है।

* 'तुलसीचर्चा, पृ० २२२

और द्वितीय का उद्देश्य है यह सिद्ध करना कि रत्नावली कौन और कृष्णदास की क्या थी, जिससे द्रविड़प्राणायाम के द्वारा प्रकट हो जाय कि तुलसी क्या और कहां के थे। कहते हैं—

> सोरह सौ सत्तावनि विक्रम के माह भई,
> अति कोपदृष्टि सिन्धु के विधाता की।
> बीतत आषाढ़ बाढ़ लाइ बढ़ि देवधुनी,
> बूढ़ी जल जन्मभूमि रत्नावली माता की।
> नारी नर बूड़े पशु सेस बहु भाग रहे;
> चिन्ह मिटे बदरी के दुपद कथा ताकी।
> अनु नभ कृष्णा मास तेरसि सनि कृष्णदास,
> वर्षफल पूर्यौ भई दया बोध दाता की॥

व्याख्या व्यर्थ होगी, परन्तु इतना संकेत अपर्याप्त न होगा कि 'वर्षफल' से 'रत्नावली माता' अथवा उस की 'जन्मभूमि' का कोई संबंध नहीं। हाँ, सोरों-आंदोलन से उस का घना लगाव अवश्य है।

सोरों समाज ने कुछ ऐसा समझ लिया है कि सोरों 'सूकरखेत' साबित हुआ नहीं कि गोस्वामी तुलसीदास का घर सोरों सिद्ध हो गया और जो कहीं 'नरसिंह' जी का मंदिर भी निकल आया तो विजय में कोई संदेह नहीं। निदान हरियाली यह दिखाई दी कि दोनों ही बातें सोरों में निकल आईं। सोरों 'सूकरखेत' तो है ही यहां 'नरसिंह' जी का मंदिर भी विराजमान है। पर यह 'नरसिंह' हैं कौन—'मानस' के 'नर रूप हरि' (नर हरि) अथवा नृसिंह भगवान्? सोरों समाज 'नरसिंह चौधरी' पर लट्टू है पर सोरों की खतौनी का संकेत है कुछ और ही। देखिए—

"नरसिंह जी के मंदिर के संबंध में जाँच करते हुए मैं (श्री माताप्रसाद गुप्त) उस स्थान के पटवारी मुं० गिरिजाशंकर से मिला, और उन से मैंने उक्त मंदिर की खतौनी जमाबंदी प्राप्त की। उस खतौनी में लिखा है 'मंदिर नरसिंह जी महाराज।' प्रश्न यह है कि क्या यह दस्तावेज़ इस बात की सूचना देता है कि उक्त मंदिर किसी नरसिंह चौधरी का था? कम से

कम प्रस्तुत लेखक (गु   ) तो इस शब्दावली का आशय यही लेगा कि यह मंदिर नृसिंह भगवान का था, न कि किन्हीं नरसिंह चौधरी का। 'जी' और 'महाराज' शब्द तो कम से कम इसी ओर संकेत करते हैं।" *

गुरु की क्षमा करें, और 'सोरों' भी अनुमति दे तो प्रकट कर दिया जाय कि पुराण और इतिहास की साखी भी यही है। चित्त को चकित करनेवाली बात तो यह है कि 'अनुज' को घोखनेहारी मंडली यह भूल जाती है कि हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपु में भी कोई संबंध था और उन को 'जन्मभूमि, तपोभूमि और यज्ञभूमि' भी कहीं 'गंगा और यमुना के मध्य में थी।' कहा थी, इस के निमित्त उसी 'तुलसीचर्चा' का पृष्ठ ३१ देखिए और सदा के लिए मान लीजिए कि वह 'नरसिंह जी महाराज' ही का मंदिर है किसी नरसिंह चौधरी का नहीं। यदि वास्तव में किसी नरसिंह चौधरी ने उसे बनवाया तो और भी अच्छी बात है, बेचारे सोरों आंदोलन के कुछ तो आँसू पुछेंगे ? वैसे तो प्रभु की लीला अपार है।

हाँ,

तुलसी घर मरघट्ट में गलकटियन के पास।
अपनी करनी आप सग तू क्यों होय उदास॥

तो छूट ही गया। परंतु यह तो 'पोथी' नहीं 'प्रवाद' की बात है और सो भी अब जब 'सोरों का अधिकांश जनसमाज यह चाहता है कि सोरों तुलसीदास की जन्मभूमि मानी जाय' तो फिर ऐसे दो चार लटकों को सनातनी बना देने में विलंब ही कितना लगता है ? जहां जहां, पन्ने के पन्ने चीथड़े प्राप्त होते हैं वहां वहां यदि स्मारक खड़े कर दिए जाते, तो हिंदी का बड़ा उपकार होता और 'सूकरखेत' की भाँति ही कितने 'तुलसीखेत' भी निकल आते। परंतु जब स्वयं गोस्वामी जी श्रीगुरु से निवेदन करते हैं—

दियो सुकुल जनम सरीर सुन्दर हेतु जो फल चारि को।
जो पाइ पंडित परम पद पावत पुरारि मुरारि को।
यह भरतखंड समीप सुरसरि, थल भलो संगति भली।
तेरी कुमति कायर कलपवल्ली चहति विषफल फली।

* सम्मेलनपत्रिका उपरी पृ० ११ १२

तब सोरों की 'सुकुल' छाती फूल जाती है और अलीगढ़ के ५७ वर्ष के एक बाल-समीक्षक सामने आ जाते हैं, और किस तपाक से कह जाते हैं—

"सत्य कहता हूँ मैं ने तुलसीदास जी के ग्रंथों का कभी पाठ तक नहीं किया।"

अच्छा किया। तभी तो उन की 'कल्पवल्ली' 'विषफल' से बची रही। आज आप ने उस पर कृपा की तो उस का विषफल (?) आप की 'कुमति' के कारण 'तुलसी-समाचार' के रूप में प्रकट हुआ और तुलसी की सीधी रचना 'कूट' की पेटारी बनी। अरे, आप तो इतना भी नहीं जानते कि तुलसी की खुली घोषणा है—

> सूधे मन सूधे बचन, सूधी सब करतूति।
> तुलसी सूधी सकल विधि, रघुबर-प्रेम प्रसूति॥

अथवा—

> सरल बरन भाषा सरल, सरल अर्थमय मानि।
> तुलसी सरलै सतजन, ताहि परी पहिचानि॥

अस्तु, हमारा कहना है कि गोस्वामी तुलसीदास की 'पहिचानि' के लिए उन की सीधी वाणी को 'कूट' बना अपनी खरी दिवांधता का परिचय न दीजिए और न इस बात का ढिंढोरा ही पीटिए कि आप गोस्वामी जी की रचना से कितने अनभिज्ञ हैं।

गोस्वामी तुलसीदास के घर के विषय में श्री माताप्रसाद गुप्त का कहना है कि वहां पहले 'राजोरिया' ब्राह्मण बसते थे, 'शुक्ल' अथवा 'सनाढ्य' नहीं। चाहे जो हो, पर इतना तो निर्विवाद है कि सनाढ्य-सोरों-सामग्री तुलसीदास के स्ववृत्त के साथ मेल नहीं खाती। श्री गुप्त जी ने उस की जो 'अतरंग परीक्षा' 'सम्मेलन पत्रिका' फाल्गुन चैत्र, संवत् १९९७ में की थी वह तो पाठांतर मात्र से हवा हो गई। गुप्त जी का 'सागर कर रस छहि' अशुद्ध बना और उसका शुद्ध रूप ठहरा 'सागर परस सही' परिणाम यह हुआ कि संवत् १६२७ तो मिथ्या बना ओर संवत् १६०४ साधु। जो हो, हम इस विवाद में नहीं पड़ते कि भूल किस की ओर कब हुई; परन्तु इतना तो विदित ही है कि गुप्त जी को सोरों-यात्रा में उक्त हस्तलिखित प्रति देखने को नहीं मिली जो अब

उनके उपहास का कारण बनी है। कुछ भी हो, सोरों-सामग्री इसका भेद न खोल सकी कि—

> बालक बिलोकि, बलि, बारे तें आपनो कियो,
> दीनबंधु दया कीन्हीं निरुपाधि न्यारिये ॥ २१ ॥

एवं

> टूकनि को घर घर डोलत कँगाल बोलि,
> बाल ज्यों कृपाल नतपाल पालि पासो है ॥२८॥

अथवा

> बालपने सूधे मन राम सनमुख भयो,
> राम नाम लेत, माँगि खात टूकटाक हौं।
> परयो लोकरीति में, पुनीत प्रीति रामराय,
> मोहबस बैठो तोरि तरकि तराक हौं॥
> खोटे खोटे आचरन आचरत अपनायो,
> अंजनीकुमार, सोध्यो रामपानि पाक हौं।
> तुलसी गुसाईं भयो, भोंडे दिन भूल गयो,
> ताको फल पावत निदान परिपाक हौं ॥४०॥

का रहस्य क्या है, और क्यों 'हनुमानबाहुक' में इस का बार-बार संकेत किया गया है। उस की दृष्टि में तो तुलसी के बाल-जीवन में कोई विशेष बात नहीं है। और यदि है भी तो यही कि तुलसी के माता पिता स्वर्गवासी हो चुके हैं। सो उसका कारण है माता-पिता जग जाय तज्यो' न कि कुछ और। 'दीनबंधु दया कीन्हीं' का अर्थ ?

'सोरों-सामग्री' की बड़ी विशेषता यह है कि यह दूर-दूर से तुलसी-जीवन को मसाल दिखाती है पर कभी ठीक उस के कक्ष में नहीं आती। कारण प्रत्यक्ष है। उसे पहले के चरितों की छीछालेदर का पूरा पता है। वह भलीभाँति जानती है कि अधिक बकने से काम बिगड़ जाता है। अतएव अपना भवन उसी सामग्री पर खड़ा करना चाहती है जो उस की समझ में ठोस सिद्ध हो चुकी है। परंतु उसे इस बात का बोध नहीं कि जिसे वह खरी समझती है वह केवल इसी लिए खरी है कि वह अभी सत्य की खरी-

कसौटी पर नहीं परखी गई है। यदि आप उस के विश्लेषण में लगें तो पता चले कि उस का आधार एक ओर जहां 'वार्ता' है दूसरी ओर वहीं तुलसी के संबंध में कुछ सर्वथा प्रचलित प्रवाद एवं कहीं कहीं स्वयं उन की रचना के भाव। पर जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है 'वार्ता' का अध्ययन अभी ठीक-ठीक नहीं हुआ है और न अभी स्वयं तुलसीदास की रचनाओं का सच्चा अवगाहन ही हो पाया है। परिणाम प्रत्यक्ष है। वार्ता में भी बहुत सी बेढंगी और बेतुकी बातें आ गई हैं और यह भी विद्वानों की मंडली में संदेह की दृष्टि से देखी जा रही है। माना कि उस के पास साखी की कमी नहीं, पर इस से क्या? सत्य का प्रकाशन हाथ उठाने अथवा बाट जुगने से तो नहीं होता। उस का स्फोट तो पद पद से स्वयं होता रहता है। अधिकरण में संख्या नहीं साख्य की प्रतिष्ठा होती है और निर्णय मात्रा नहीं माप पर अवलंबित होता है। याद रहे, कोई भी गुट हल्ला मचा सकता है पर पिनाक उठाने का काम कोई राम ही कर सकता है। साराश यह कि सोरों-सामग्री की बाढ़ से सोरों की हित साधना न होगी। उस के लिए तो उसे ठोस आधार पर खड़ा होकर खरी और शुद्ध सामग्री ढूँढ निकालना होगा और फिर यह देखना होगा कि वह अन्यों के मेल में कहां तक है। कहने की बात नहीं कि इस दृष्टि से विचार करने पर किसी भी मनीषी का संताप नहीं होता। सोरों सामग्री हमारे सामने ठीक उसी सोने की सिकड़ी के समान प्रस्तुत की जाती है जो देखने में तो खरी, सोने की चीब ठहरती है, पर कसौटी पर चढ़ते ही अपना रंग खोल देती है। निदान हम तो उसे खरी मानने से रहे, फिर चाहे उस के जितने गवाह हों।

एक बात और। 'कथा सो सूकरखेत' से न तो यही सिद्ध हो जाता है कि तुलसीदास उसी क्षेत्र में कहीं जनमे भी थे और न यही प्रकट होता कि यह असली सूकरखेत या आदि वाराहक्षेत्र' का ही द्योतक है। यह तो किसी भी सूकरखेत का वाचक हो सकता है। अतएव यह सिद्ध करने की चेष्टा कि सोरों ही आदि सूकरखेत है कोई बड़ी बात नहीं। हां यह शोध करने की बात है कि वस्तुतः 'मानस' का सूकरखेत कहां है। वह सोरों भी हो सकता है और उस से सर्वथा भिन्न कहीं अन्यत्र भी। इस भिन्नता का समाधान

स्वयं बाबा जी ने 'कलभेद' के रूप में उसी 'मानस' में कर दिया है, जिस मानस में 'रामचरितमानस' की परंपरा बताई गई है। और अब तो एक दल ऐसा भी निकल आया है जो 'नररूप हरि' को अशुद्ध एवं 'नर रूप हर' को शुद्ध ठहराता है। यदि यह ठीक हुआ तो सोरों की (नरसिंह चौधरी की) लाज व्यर्थ जायगी और उसका सारा श्रम निष्फल जायगा। अतएव समझ और शोध की बात तो यह दिखाई देती है कि इधर-उधर का ताना-बाना छोड़ कर कुछ ऐसा बाना लिया जाय कि तुलसीदास की जीवनी अपने खरे रूप में चमक उठे, आजकल के नाना आक्षेपों का समाधान न कर स्वयं 'गुसाईं' जी को परखने की चिंता करे। गोस्वामी जी ने स्वतः अपने विषय में इतना कुछ कह दिया है कि उसके प्रकाश में हम किसी भी जाल को छेद कर उसके मूल में पैठ सकते हैं और यह निर्द्वन्द्व भाव से कह सकते हैं कि यह मूल नहीं माया है। खेद है सनाढ्य-सोरों-सामग्री में इसी माया का विलास है और है 'तुलसीचर्चा' उसी का कुपरिणाम।

दूसरे सूकरखेत के लिये श्री भगवतीसिंहजी का लेख (सन्मार्ग ४ अगस्त, सन् १९४६) देखना उपयोगी होगा और दूसरा पक्ष भी कुछ अधिक व्यवस्था के साथ प्रस्तुत हो जायगा। हम उसके विषय में विशेष कुछ कहना नहीं चाहते। यह एक स्वतन्त्र विषय है।

१०—अबुलफजल का वध

वीर और विवेकी अल्लामा अबुलफजल के वध के विपय में इतिहासों म जो कुछ पढा वह गल के नीचे न उतरा, पर उसे सत्य मानने के अतिरिक्त और कोई उपाय भी तो न था। इसी उलझन म था कि महाकवि केशवदास का 'वीरसिंहदेवचरित' हाथ लगा। बडे चाव से पढा। सोचा स्यात् कहीं से कुछ और हाथ लगे और अल्लामा अबुलफजल का अंत कुछ और खुलकर सामने आए। आया पर विश्वास करने का साहस न हुआ। इतिहास के सामने काव्य को कौन खरा समझेगा! सो भी हिंदी काव्य का! निदान फिर पढा और फिर पढा, और तब तक इस पढने का पीछा करता रहा जब तक कवि का 'प्रमान' प्रमाण रूप म सामने न आ सका। केशव ने लिखा—

> नव रस मय सब धर्म मय राजनीति मय मान।
> *वीरचरित्र विचित्र किय, केशवदास प्रमान ॥ १६ ॥**

केशवदास की इस विचित्रता पर विचार करने का अवसर नहीं। यह तो कभी काव्य के अवसर पर किया जायगा। यहाँ तो केवल उसके 'प्रमान' पर ही थोड़ा विचार करना है और सो भी अल्लामा अबुलफजल के वध के विपय में। सो प्रकट ही है कि *कवि केशवदास की वाणी को* कोई *इस कारण* प्रमाण नहीं मान सकता कि वह वधिक वीरसिंह का दरबारी कवि है। पर इसे *भूलना न होगा कि यह* दरबारी कवि दरबार पर *कभी उतना आश्रित* न था जितना उसका प्रसिद्ध पतादाता असदवेग। असदवेग ने जो कुछ उक्त अल्लामा के निधन के विपय में लिखा है वह प्रमाण केवल इसीलिए माना जाता है कि अभी तक उसकी तोड़ का कोई दूसरा ब्योरा सामने नहीं आया। जहाँगीर का लेख अव्यापक और अधूरा है। उसमें प्रसगवश इसका उल्लेख भर कर दिया गया है। वह कहता है—

'बहादुरी मर्दानगी और भोलेपन में अपने बराबरवालों से बढकर है।

---

* वीरसिंहदेवचरित पृष्ठ २।

इसके बढ़ने का यह कारण हुआ कि मेरे पिता के पिछले समय में शेख अबुल-फजल ने जो हिंदुस्थान के शेखों में बहुत पढ़ा हुआ और बुद्धिमान था स्वामि-भक्त बनकर बड़े भारी मोल में अपने को मेरे बाप के हाथ बेच दिया था। उन्होंने उसको दक्षिण से बुलाया। वह मुझसे लाग रखता था और हमेशा ढके छिपे बहुत सी बातें बनाया करता था। उस समय मेरे पिता फसादी लोगों से बुरी चुगलियाँ सुनकर मुझसे नाराज थे। मैं जान गया था कि शेख के आने से यह नाराजी और बढ़ जावेगी जिससे मैं हमेशा के लिये अपने बाप से विमुख हो जाऊँगा। उस बरसिंहदेव का राज्य शेख के मार्ग में पड़ता था और वह उन दिनों बागी भी हो रहा था। इसलिये मैंने इसको कहला भेजा कि यदि तुम फसादी को राह में मार डालो तो मैं तुम्हारा बहुत कुछ उपकार करूँगा। राजा ने यह बात मान ली। शेख जब उसके देश में होकर निकला तो इसने मार्ग रोक लिया और थोड़ी सी लड़ाई में उसके साथियों को तितर बितर करके शेख को मारा और उसका सिर इलाहाबाद में मेरे पास भेज दिया। इस बात से मेरे पिता नाराज तो हुए परन्तु परिणाम यह हुआ कि मैं बखटके उनके चरणों में चला गया और वह नाराजी धीरे धीरे दूर हो गई।'*

श्री मुंशी देवीप्रसाद जी ने जिसे 'बरसिंहदेव' पढ़ा है वह वास्तव में यही वीरसिंहदेव है, जिसे भ्रमवश बहुत से लोगों ने 'नरसिंहदेव' भी पढ़ा था। फारसी लिपि की दुरूहता के कारण ही ऐसा हुआ। फिर भी इतना तो प्रकट ही है कि जहाँगीर ने जो कुछ लिखा है वह इतिहास के रूप में नहीं लिखा है। यहाँ वह केवल अपने को बचाना और वीरसिंह की सेवा को उगाना चाहता है। उसकी इसमें प्रशंसा अवश्य है कि उसने अपने अपराध को स्वीकार कर लिया, परन्तु यदि वह ऐसा नहीं करता तो और करता क्या ? यह तो जगविदित हो चुका था और सभी लोग उसका कुछ इससे अधिक ही दोषी समझते थे। विचार करने की बात है कि कहला देने भर से वीरसिंह ऐसा साहस का काम करता और केवल उसके बागी हो जाने भर से जहाँगीर भी उसके पास ऐसा भीषण संदेश भेजने का साहस करता ? कहीं वह फूट जाता

* श्री देवीप्रसाद जी द्वारा अनुवादित जहाँगीरनामा, पृष्ठ ३५ ३६, भारतमित्र प्रेस, कलकत्ता सन् १९०५।

तो ? नहीं, निश्चय ही इसका रहस्य कुछ और है। और, यहाँ इतना और भी ध्यान रहे कि अभी वीरसिंहदेव राजा नहीं थे। ओड़छा का राज्य इस समय राजा 'रामशाह' के हाथ में था, जिनकी ओर से उनके अनुज इंद्रजीत राज करते थे और वीरसिंहदेव अभी केवल जागीर भर भोगते थे, जिसको छोड़कर उन्हें भागना भी पड़ा था। केशव कहते हैं—

यह सुनि बोल्यौ ज्यदौ गौर, पहिलो सौं अब नाहीं ठौर।
फेरि अकब्बर के परमान, पछवाहे सों बैर विधान।
इंद्रजीत सौं हतो समीति, कछू दिननि तें ऐसी रीति।
कोई कैसोई हितु रचै, घातै पाइ न राजा बचै।
छोड़ी सबै सुघर की आस, चलो सलेमसाहि के पास।
घटिबढ़ि अपनै करमहि लगी, उद्दिम सब की कीरति जगी।
जानै कौन करम की गाय, काहू कै है राहिए नाय।
तब ही कीनो यहै विचार, चल्यौ प्रयागहि राजकुमार।*

कहना न होगा कि यह 'राजकुमार' वही 'वीरसिंहदेव' है जिसको इतिहासकार इस अवस्था में भी 'राजा' लिखते हैं। अस्तु, राजकुमार वीरसिंह जब यह देखता है कि उसके भाई-बंधु भी उसके विरोध में हैं और उनसे पार पाने की शक्ति उसमें नहीं है तब वह अपने मित्रों के परामर्श से सलीम शाह से संधि करना चाहता है, क्योंकि वह भी उसी की भाँति उस समय अकबर का विरोधी है। उधर सलीम भी इसी चिंता में लीन है, फलतः—

अहीछत्र किय कुँवर मिलान, मिल्यौ मुदफ्फरसैद सुजान।
तासौं मतै कुँवर सब कह्यौ, सुनिसुनि समुझि रीझि हिय रह्यौ।
कह्यौ मुतिहि सुनि अरि कुल हाल, चलियै तो चलियै इहिं काल।
जौ लौं काहू कछू मन कियौ, उमग्यौ जाहि न अरिनै कियौ।
जौ ह्यां है हैं कछू उपाउ, दियौ न जैहैं आगे पाँउ।
घर के, रहैं बिगरिहैं काज, दुहूँ भाँति चलनौ है आज।
मन क्रम बचन धरौ यह नेम, तुम सेवक प्रभु साहि सलेम।‡

जहाँगीर ने यह नहीं लिखा कि किसके द्वारा उसने यह काम कराया;

* वीरसिंहदेवचरित, पृष्ठ ३२। ‡ वही।

पर कवि केशव का कहना है कि इस कार्य का सूत्रपात सैद मुदफ्फर खाँ के द्वारा हुआ। अच्छा तो यह मुदफ्फर खाँ है कौन? और इसके लिये भी जहाँगीर कुछ करता है या नहीं? सो हमारी मति में तो यही आता है कि हो न हो, केशवदास का यह मुदफ्फर खाँ वही मुजफ्फर खाँ हो जिसके विषय में जहाँगीर ने स्वयं लिखा है—

"इसी दिन (२१ गुरुवार, सावन बदी ५, सं० १६७५ वि०) मुजफ्फर खाँ ने जो ठट्ठे की सूबेदारी पर नियत हुआ था चौखट चूम कर १०० मुहरें, एक हजार रुपए और एक लाख रुपए के जवाहिर और जड़ाऊ पदार्थ भेंट किये।*"

आगे चलकर जहाँगीर ने उसकी और प्रतिष्ठा की और उसे खिलअत, हाथी तथा मनसब दिए, यह उसकी 'तुजुक' से प्रकट ही है। रही आगे की बात, सो केशव लिखते हैं—

सरीफखा यहि देखि सुख भयौ, छीर नीर ज्यौं मन मिलि गयौ।
सुदरघा जब सरीफ खा जाइ, हरख्यौ दिल दिल्ली कौ राइ।
बालहू वेगि कह्यौ सुलतान, मेरे बीरसिंह तन-प्रान।
साहि-सभा जब गयौ नरिंदु, सूरज-मंडल मैं मनु इंदु।
देखत सुख पायौ सुलतान, जौ तन पायौ अपनै प्रान।
कै तसलीम गहे तब पाइ, उमग्यौ आनँद अंग न माइ।
सोभ्यौ बीर देखि यौं साहि, जैसैं रहै सुमेरहि चाहि।
बीरसिंह कौ बाढी सोह, पारस सौं परस्यौ ज्यौं लोह।
परम सुगंध नीम ह्वै जाय, जैसैं मलयाचल कौ पाइ।
कह्यौ साहि नीकै है राय, जब नीकैं जब देखे पाय।
भली करी तैं राजकुमार, छोड्यौ सब आयौ दरबार।
है है मनै पूजिहै आस, जौ तू रहिहै मेरे पास।
यह कहि पहिराए बहु बार' हाथी हय औरहु हथयार।
भीतर गौ दिल्ली कौ नाथ, बहुरयौ खा सरीफ गहे हाथ।
जब जब जाइ कुँअर दरबार, लै बहुरै आनँद अपार।†

* जहाँगीरनामा, पृष्ठ ३२९। † वीरसिंहदेवचरित, पृष्ठ ३५।

केशवदास ने यहाँ शाह सलीम को जो 'दिल्ली कौ नाथ' कहा है इसका भी कुछ कारण है। बात यह है कि इस समय जहाँगीर इलाहाबाद के किले में बहुत कुछ स्वतन्त्रता का अनुभव कर रहा था और अकबर के अधीन केवल इतना ही था कि उसे सम्राट् समझ लेता था। अकबर के समय में 'शाह' और 'सुल्तान' का संकेत वह नहीं रह गया था जो उसके पहले था। अब तो मुगल राजकुमार 'शाह' और 'सुल्तान' कहलाते थे। केशव ने भी यहाँ यही किया है। केशव के इस कथन से यह भी प्रगट होता है कि किस प्रकार प्रतिदिन उनकी मैत्री बढ़ती गई और निदान सलीम ने मुँह खोलकर वीरसिंह से कह ही तो दिया—

> *जितनौ कुल आलम परवीन, थावर जगम दाई दीन।*
> *तामैं एकै बैरी लेख औबलफजल कहावै सेख।*
> वह सालत है मेरे चित्त, काढ़ि सकै तौ काढ़हि मित्त।
> जितने कुल उमरावनि जानि, ते सब करहिं हमारी कानि।
> आगे पीछे मन आपनै, वह न माहि तिनका करि गनै।
> हजरति कौ मन मोहित भरयौ, याकैं पारैं अंतर परयौ।
> सत्वर साहि बुलायौ राज दक्खिन ते मेरे हीं काज।
> हजरति सौं जौ मिलि है आनि, तौ तुम जानहु मेरी हानि।
> वेगि जाउ तुम राजकुमार, बीचहिं वाकौं कीजै रार।
> पकरि लेहु कै डारहु मारि, मेरौ हेत हियैं निरधारि।
> होय काम यह तेरे हाथ, सब साहिबी तुम्हारे साथ। *

केशव ने अकबर के लिये जो 'हजरत' का व्यवहार किया है उससे इतिहास खूब परिचित है, पर वह यह नहीं जानता कि सलीम ने खूब परखकर ही, 'प्रयाग' में शपथ लेने के बाद ही, वीरसिंह से ऐसा कुछ कहा था। और इस सधि का संयोजक था खाँ शरीफ अथवा शरीफ खाँ ही। सुनिए—

> सुख पायौ बैठे हते एक समय सुल्तान।
> खाँ सरीफ तिन बोलि लिय, बिरसिंहदेव सुजान॥

* वही पृष्ठ ३६-७।

निरखिद्देउ सुजान मान दै बात कही तब।
या प्रयाग में कुँवर बाँह करिये मोसों अब॥
तोसों करों विचार करहि अपने मनभायें।
अनत न कबहूँ जाउ रहहु मो सँग सुख पायें॥ *

कुँवर वीरसिंह का विश्वास हो जाने पर उससे प्रयाग में शपथ लेकर सुलतान सलीम ने जो कुछ कहा वह ऊपर आ चुका है। अब वीरसिंह की सीख सुनिए। कहते हैं—

वह गुलाम तूँ साहिब ईस तासों इतनी कीजहि रीस।
प्रभु सेवक की भूल विचारि, प्रभुता यहै सु लेइ सम्हारि।
सुनिजतु है हजरत कौ चित्त, मन्त्री लोग कहत हैं मित्त।
तौ लगि साहि करै जब रोष, कहियै यो किहि लागै दोष।
जन कौ कुरती कैसी रीति, सब तजि साहिब ही सौं प्रीति।
तातैं वाहि न लागै दोष, छाड़ि रोष कीजै संतोष। ‡

किंतु सलीम के मन में जो बात बरसों से बस चुकी थी वह सहसा निकलने वाली कब थी? फलत हुआ यह कि—

कहि तुरतहि वखतर तहि वेहि, लै बाँधी कटि अपनी तेग।
धारो दै सिरपा पहिराय, कीनी बिदा तुरत सुख पाय।
दरीखाने तैं राजकुमार, चलत भई यह सोभा भार।
रविमंडल तैं आनदकद, निकसि चलौ बनु पूरनचद।
सैद मुजफ्फर लीनो साथ, चले न जानै कोउ गाथ। †

तात्पर्य यह कि केशव के 'प्रमाण' से यह सिद्ध नहीं होता कि जहाँगीर ने दूर से जो कहला दिया उसी पर वीरसिंह ऐसा साहस का काम करने को निकल पड़े, नहीं, इसके लिये तो बहुत छानबीन हुई और इसमें 'शरीफ खाँ' तथा 'सैद मुजफ्फर' का विशेष हाथ भी रहा। मुजफ्फर के बारे में पहले कहा जा चुका है अतः अब शरीफ खाँ की सुनिए। श्री देवीप्रसाद जी लिखते हैं—

"४ रज्जब अगहन सुदी ६ को शरीफ खाँ जो बादशाह के भरोसे का आदमी था और जिसको तुमन और तोग मिला हुआ था बिहार के सूबे से

* वही, पृष्ठ ३५। ‡ वही, पृष्ठ ३७। † वही।

आकर उपस्थित हुआ। बादशाह ने प्रसन्न होकर उसको वकील और बड़े वजीर का उच्च पद अमीरुल उमरा की पदवी और पाँच हजार सवार का मनसब दिया। इसका बाप ख्वाजा अब्दुस्समद बहुत अच्छा चित्रकार था और हुमायूँ बादशाह के पास प्रतिष्ठापूर्वक रहता था जिससे अकबर बादशाह भी उसका बहुत मान रखता था।*"

श्री देवीप्रसाद जी ने शरीफ खाँ का जो परिचय दिया है वह पूर्ण नहीं है। जहाँगीर ने तुजुक' में इससे कहीं अधिक लिखा है। उसका कहना है कि मेरा शरीफ खाँ से ऐसा लगाव है कि मैं उसे भाई पुत्र, मित्र और साथी समझता हूँ। क्यो न हो ? इसी बात का पता तो कवि केशवदास देते हैं ? केशवदास ने शरीफ खाँ के विषय म जो लिखा उसको सामने रखकर उसकी 'तुजुक' के शरीफ खाँ को देखें तो आप ही सारा रहस्य खुल जाय और यह भी स्पष्ट हो जाय कि क्यों उसपर जहाँगीर की ऐसी कृपा है। स्मरण रहे उसे खाँ की उपाधि यहीं से मिली थी और यहीं से मिली थी बिहार की सूबेदारी भी। बादशाह अकबर ने आपको समझाने के लिये सलीम के पास भेजा था, परंतु आप प्रयाग पहुँचकर उसके भेदिया हो गए और आपकी कृपा से ही अबुल फजल का वध हुआ। इतिहास की आँख से आप ओझल रहें पर हिंदी-काव्य आपको कैसे छोड़ सकता है ? जानो केशवदास ने आपका कैसा परिचय दिया! हिन्दी के अतिरिक्त और यह कहाँ है ?

हाँ तो नरसिंह देव ने अबुलफजल का दाह में किया यह—

> पठए चर नीके नरनाथ, आवत चल सेख के साथ।
> चारन कही कुँवर सो आय आए नरवर सेख मिलाय।
> यह कहि मुनि भए छँध के पार, पल पल लखैं सेख की सार।
> आए सेख मीच के लिए पुर पराइछे डेरा किए।
> औबलिफजलि बड़े ही भोर चले कूँच कै अपनै जोर।
> आगै दीनी रसधि चलाइ पीछैं आपुन चले बजाइ।
> बीरसिंह दौरे अरि हेरि ज्यों हरि मत्त गयदनि घेरि।†

* जहाँगीरनामा पृष्ठ ३१। † वीरसिंहदेवचरित, पृष्ठ ३८।

सलीम के आदेशानुसार वीरसिंह ने किया क्या, इसका पता तो हो गया। चर भेजा और उनसे सूचना पाते ही सिंध पार कर सहसा अबुलफजल पर धावा बोल दिया। शेख ने इस पर जो कुछ किया वह यह है—

> सुनतहि वीरसिंह को नाउ, फिर ठाढ़ौ भयो सेख सुभाउ।
> परम रोस सौं सेख बखानि, जैसे असुर नृसिंहहि जानि।
> दौरत सेख जानि बड़ भाग, एक पठान गह्यौ तब बाग। *

अबुलफजल का यह साहस उनके साथी पठान को अच्छा न लगा। वह चाहता था कि इस अवसर पर किसी प्रकार शेख निकल भागें और फिर दूसरा बदला सलीम से लें, पर उसकी यह बात उनको न रुची। उन्होंने सच्चे वीर की भाँति कहा—

> कहि धौं अब कैसे भग जाऊँ, जूझत सुभट ठाउँ ही ठाउँ।
> आनि लियौ उनि आलम लोगु, भाजे लाज मरैगो लोगु। †

उस पठान ने बहुत कुछ समझाया पर शेख ने उसकी एक न सुनी और अंत में—

> तूँ जु कहत चलि जैये भागे, उठे चहूँ दिसि वैरी गाजि।
> भाजे जात मरन जौ हाथ, भाजौ कहा रहै सब काथ।
> जो भजिजै लरिजै गुन देखि, दुहूँ भाँति मरिबाई लेखि।
> भाजौं जौं तौ भाजयौ जाइ, क्यों करि देहै मोहि भजाइ।
> पति को वैरी पाइ निहार, सिर पर साहि मयो को भार।
> लाज रही अँग लपटाइ, कहि कैसो कै भाजौं जाइ। ‡

भला बेचारा पठान इसका उत्तर क्या देता? अबुलफजल सा न्यायी किसी के सामने कब झुका? अल्लामा ने झट देख लिया कि वैरी के हाथ से निकल भागना संभव नहीं। निदान वीरता से क्यों न जूझा जाय? जीत गए तो कहना ही क्या, मर गए तो भी कोई क्षति नहीं। मरना तो है ही, फिर बहादुरी के साथ क्यों न मरें। निदान—

> छाड़ि दई तिहि बाग निवारि, दौर्‌यौ सेख काढ़ि तरवारि।
> सेख हाथ जितही जित अवै, भरभराइ भय, भागै तबै।

---

*—वही। †—वही। ‡—वही।

काटे तेग साजिये सेखु जनु तनु धरे धूमध्वज देखु।
दड धरे जनु आपनु काल, मृत्यु सहित जग मनहु कराल।
मारे जाहि रान द्वै होय, ताके सन्मुख रहै न कोय।
गाजत गज हींसत हय परे, बिन मुंडनि निज पायनि करे।
नारि कमान तीर थहरार, चहुँ दिसि गोला चले अपार।
परम भयानक यह रन भयौ, सेखहि उर गोला लगि गयौ।
जूझि सेख भूतल पर परे, नैकु न पग पीछे कौं धरे।*

शेख का अंत हो गया और साथ ही युद्ध का भी। फलत

देखत कुँवर गए तब तहाँ, अबुलफजल सेख है जहाँ।
परम सुगध गत तन भर्‌यौ सोनित सहित धूरि धूसर्‌यौ।
कछु सुख कछु दुख व्यापित भए, लै सिर कुँवर बडोनहि गए।[†]

अबुलफजल जीता हाथ न लगा तो उसका सिर ही सलीम की सेवा में भेज दिया गया—

देव सु बड़ गूजर सुत भले, नपतिराइ सीस लै चले।
सीस साहि के आगे धर्‌यौ देखत साहि सकल सुख भर्‌यौ।[‡]

उधर अकबर को इसकी सूचना मिली तो वेदना से उसका हृदय भर गया। फिर जब कुछ सचेत हुआ तब असदवेग की सूझी। तड़पकर कहा—कहाँ है असदवेग? लाओ इसी गुसलखाने में उसे दो टूक कर दूँ। असदवेग आया और ऐसी बात बनाकर लाया कि सबकी बन गई। किसी को इस हत्या का दंड न भोगना पड़ा। असदवेग ने इस स्थिति में जो विवरण दिया वही आज के इतिहास का प्राण है पर उसकी अप्रामाणिकता आप ही प्रकट है। प्रत्यक्ष है कि असदवेग ने इस प्रकरण में जो कुछ लिखा है वह इतिहास की शुद्ध और निष्पक्ष दृष्टि से नहीं। नहीं उसे तो अकबर का कृपापात्र बनना तथा अपनों को उसके कोप से बचाना था। निदान सारा दोष उसने भाग्य और *अल्लामा* की ऐंठ के सिर मढ़ दिया और ऐसा मढ़ दिया कि आज भी वही इतिहास के मुँह से बोल रहा है। 'दरबार अकबरी' के लेखक मौलाना 'आजाद' को उसपर सन्देह है पर उनके पास अनुमान के अतिरिक्त कोई

१—वही पृष्ठ ३९-४०। २—वही पृष्ठ ४०। ३—वही पृष्ठ ४१।

उपाय नहीं। उन्हों ने कवि केशव को कब पढा ? रहे आजकल के शोधप्रिय डाक्टर लोग। सो विलायत के सामने घर को कब ढूँढते हैं ? बहुत हुआ तो 'जहाँगीर' के लेखक डाक्टर बेनीप्रसाद जी ने लिख दिया कि राजनीति के विचार से हिंदी कवि केशवदास के 'वीरसिंहदेवचरित' का महत्व नहीं। बस, फिर किसी की दृष्टि उसपर क्यों पड़ने लगी और क्यों उसका भी नाम इतिहास में आने लगा ? और तो और, श्री गोरेलाल तिवारी का 'बुंदेलखंड का संक्षिप्त इतिहास' काशी नागरीप्रचारिणी-सभा से प्रकाशित होने पर भी इस हिंदी के कवि केशव से दूर ही रहा ! पर नहीं, इतने दिनों पर आज एक हिंदी-प्रेमी के द्वारा यह बताया जाता है कि इस विषय में महा कवि केशव ने जो लिखा वह खरा और सरदार असदबेग ने जो कुछ कहा वह खोटा है। कारण ध्यान से सुनिए और फिर विचारकर कहिए कि आपका मत क्या है।

असदबेग ने पहले तो अपनी सफाई दी है और फिर अल्लामा की भूलों का उल्लेख किया है। उसका सारा विवरण देख जाइए। उसमें भूल यदि किसी से होती है तो केवल उक्त अल्लामा से। उसके मतानुसार अल्लामा अबुलफजल यदि गोपालदास की बातों में न आते और 'अपने भेजे हुए साथियों का कहना करते तो उनका यह अंत कदापि न होता। पर जो होना था उसे कौन रोकता। शेख ने अपनी सेना छोड़ दी और गोपालदास की खड़ी की हुई नयी सेना को साथ लिया। गदाई खाँ को साथ लिया पर उसके सच्चे साथी नहीं छोड़ दिए गए। मिरजा मुहसिन ने निकल भागने को कहा पर उसपर कान नहीं दिया। आसपास के जागीरदार अपने सवारों को साथ भेजना चाहते थे पर शेख ने उनको भी साथ न लिया। यहाँ तक कि एक फकीर ने भी सचेत किया पर उसपर भी ध्यान न दिया। साराश यह कि शेख का वध शेख की शेखी के कारण हुआ कुछ मुगली चाकरी की उपेक्षा के कारण नहीं। संदेह नहीं कि अल्लामा से कुछ भूल अवश्य हुई। उनकी सब से बड़ी भूल थी उस मार्ग से आगे बढना। पर इसे कुछ दूसरी दृष्टि से भी तो देखें। वास्तव में ये दरबारी जीव वीरसिंह का क्या समझते थे और वस्तुतः मैदान में आने पर वह क्या निकला ? क्या यही वीरसिंह एरछ

के घेरे से बिजली की भाँति सर से नहीं निकल गया और चुनी हुई मुगल सेना अंत तक उसको न पा सकी ? इतिहास के लोग इसे क्यों भूल जाते हैं ? असदबेग ने यहाँ भी तो यही किया ? सभी अपराधियों को अपने विवरण की चातुरी से बचा लिया । सभी निर्दोष निकले । गया सो गया पर जीते को बचाओ; यही असदबेग का लक्ष्य रहा है, कुछ सच्ची घटना के यथातथ्य वर्णन का नहीं । फलतः उसने अल्लामा के पक्ष को गिराया और सम्राट् के सेवकों के पक्ष को बचाया है । उसकी कल्पना की इति तो वहाँ हो जाती है जहाँ वीरसिंह उक्त अल्लामा के शिर को अंक में लेता और उनके द्वारा झिड़का जाता है । उस समय जब्बार खाँ की लीला तो देखते ही बनती है । परंतु क्या यह संभव भी है ?

असदबेग को लीजिए, चाहे केशवदास को । दोनों ही बताते हैं कि वीरसिंह के रणभूमि में पहुँचने के पहले ही शेख धराशायी हो चुके थे । सोचिए तो सही ऐसी स्थिति में वीरसिंह विरम कहाँ रहे थे । असदबेग कुछ भी कहता रहे, शेख ने ताड़ लिया था कि अब निकल जाना संभव नहीं । निदान उन्होंने लड़कर प्राण देना उचित समझा । भागकर प्राण गँवाना नहीं । वीरसिंह अपनी सभी सेना के साथ इसी घात में तो था कि शेख जिधर निकलें उधर से ही उन्हें ले ला । उसे अपनी बुद्धि तथा बाहुबल पर विश्वास था । उसने रात के समय छापा नहीं मारा । दिन-दहाड़े शेख को एक ही झटके में लिया । भाग्य की बात छोड़िए । शेख ने यदि भूल की तो फिर जिस सुभट ने वीरसिंह को पछाड़ दिया ? इतिहास और असदबेग का बेचारा भी इसका साक्षी है कि जो उसके सामने आया उसे मुँह की खानी पड़ी और वह जयी होने पर भी मुँह लटकाए ही रहा । फिर बेचारा अल्लामा ही इसके लिये दोषी क्यों ? हाँ, इतना अवश्य हुआ कि स्थिति का ठीक ठीक बोध न हुआ और उनको आत्मबल पर अधिक विश्वास रहा । तो केशव-दास भी तो यही कहते हैं—

आए सेख सीच के लिए, पुर पराइछे डेरा किए ।
औरछिरमहिं बने ही भार, चले कूँच कै अपने जार ॥१

१—यहीं पृष्ठ १८ ।

जो हो हमें असदवेग से अधिक उलझने की कोई आवश्यकता नहीं। उसने उक्त अल्लामा की ऐंठ के विषय में जो कुछ लिखा है, सब सही, पर हमारा कहना तो यह है कि इसी के कारण हमारे कवि केशवदास की इतनी उपेक्षा क्यों? स्मरण रहे, केशव ने जो कुछ लिखा है, वीरसिंह के सामने। अतएव उसकी साधुता में संदेह तभी हो सकता है जब उसमें वीरसिंह की कोरी प्रशंसा हो। आप केशव के वर्णन को ध्यान से पढ़ें और ध्यान से देखें असदवेग के विवरण को भी और फिर विचार कर कहें कि चाटुकारिता किसमें अधिक है, और किसने किस व्यक्ति को किस रूप में देखा है। हमारा तो निश्चित मत है कि हिंदी के कवि केशव ने इस विषय में जो कुछ लिखा है वह सचमुच 'प्रमाण' है और उसके अभाव में वर्तमान प्रसंग भी अधूरा। 'शरीफ खाँ' का यह रूप हमें किस इतिहास में दिखाई देता है? इसके बिना क्या जहाँगीर की कृपा का रहस्य खुलता है? फिर भी अबुलफ़ज़ल के प्रसंग अथवा जहाँगीर के इतिहास में केशव की पूछ नहीं। कारण आत्मपतन के अतिरिक्त और क्या हो सकता है! 'वीरसिंहदेवचरित' का कोई अच्छा संस्करण भी तो नहीं? वैसे कहने को तो हिंदी में बहुत कुछ हो रहा है, पर सच पूछिए तो उस कुछ पर कितने लोगों का ध्यान गया है जो कुछ खोकर कुछ बनाने के लिये बना है, कुछ यों ही कला दिखाने या बात बनाने के लिये नहीं। केशवका अध्ययन समुचित रूप से कब होगा यह अभी नहीं कहा जा सकता। कारण कि वे दरबारी और कठिन कविता के प्रेत हैं। परंतु इस जन का यह दृढ़ विश्वास है कि जब तक इन दरबारी कवियों का अध्ययन डटकर नहीं होता और तब तक हमारे इतिहासलेखक इस युग के कवियों का मथन जमकर नहीं करते तब तक हमारा सच्चा इतिहास तो बन नहीं सकता। वैसे तिथियों की धड़ पकड़ और गद्दियों का लेखा-जोखा चाहे जितना बने। अस्तु, चोखा काम तो यही है कि हम किसी काल के इतिहास में तब तक हाथ न लगायें जब तक हमें उस काल के कवियों का योग न मिला हो। कवि समाज की आँख है जो इतिहास के पन्नों में नहीं कविता के पदों में खुलती और विवेक को प्रशस्त मार्ग दिखाती है। आशा है हमारे इतिहासकार कुछ हिंदी कवियों से भी सीखेंगे और अल्लामा अबुलफ़ज़ल के प्रसंग में इस बेचारे केशव से भी

पूछ देखेंगे। हमारा विश्वास है कि यदि वीरसिंहदेवचरित' तथा जहाँगीर-जस-चंद्रिका' का प्रकाशन ठौर ठिकाने से हो जाय तो इतिहास को भी कुछ आधार मिले और इस-काल की बहुत सी गुत्थियाँ सुलझ जायँ। सुनते हैं इलाहाबाद की हिन्दुस्तानी एकाडमी इस काम में लगी है पर उसका परिणाम कब देखने को मिलेगा यह भी देखना है। साथ ही यह भी बता देना है कि जो चारों ओर जहाँ तहाँ किताबों, लेखों और व्याख्यानों में नीतिवश बताया जा रहा है कि आलमगीर औरंगजेब ने जो केशवराय का मन्दिर तोड़ा वह इसी लूट के रुपये से बना था, उसमें कुछ सार नहीं, स्वयं असदबेग की साखी है कि अल्लामा अबुलफ़जल की थाती सकुशल अकबर के पास पहुँच गयी थी। इस प्रकार के मिथ्या प्रचारों के मूल में जो भावना काम कर रही है उसका प्रकाशन अन्यत्र होगा। यहाँ इतना ही अल है। अल्लामा अबुल फजल कोई लुटेरा अमीर तो था नहीं कि इतना द्रव्य साथ लेकर चलता! उसके शील का भी तो कुछ ध्यान रखना चाहिये! ऐसी उड़ाना से इतिहास की रक्षा नहीं होती और न 'एकता' का मर्ग ही निकलता है। हाँ अनीति और अत्याचार का पक्ष प्रबल और पुष्ट अवश्य हो जाता है जो अन्त में घातक ही सिद्ध होता है, साधक कदापि नहीं।

११—भूषण की राष्ट्र-भावना

भूषण की राष्ट्रभावना पर विचार करते समय भूलना न होगा कि भूषण का जन्मस्थान वही था जो अकबर के हृदय महाराजा बीरबर का निवासस्थान। बस इसी एक बात से भली भाँति जाना जा सकता है कि इस वीर बालक का हृदय कैसा उदार रहा होगा और क्या इसकी कट्टर औरंगजेब आलमगीर से नहीं पटती रही होगी। विशेष दौड़धूप की कोई आवश्यकता नहीं। भूषण का स्वयं कहना है—

> दौलति दिल्ली का पाय कहाये आलमगीर,
>
> बब्बर अकब्बर के बिरद बिसारे तैं।
>
> भूषन भनत लरि लरि सरजा सों जंग,
>
> निपट अभंग गढ़ कोट सब हारे तैं।
>
> सुधर्यो न एकौ काज भेजि भेजि वेही काज,
>
> बडे बडे बे इलाज उमराव मारे तैं।
>
> मेरे कहे मेर करु, सिवा जी सों बैर करि,
>
> गैर करि नैर निज नाहक उजारे तैं॥

कान दे दीजिये तो कौन किससे क्या कह रहा है, भूषण का बल तो देखिये, किस निर्द्वन्द्व भाव से कह रहा है—मेरे कहे मेर करु। पर क्या हठी आलमगीर इस 'मेरे' के अर्थ का समझता है और जानता है किसी 'भूषण' की शक्ति का? नहीं, जानता ही तो आज यह उपद्रव क्यों होता! देखिये न औरंगजेब आलमगीर बना तो उसने अपना काम कैसे बिगाड़ लिया और कैसे घर के प्राणी का 'गैर' बना लिया। अरे! क्या आप से यह भी बताना होगा कि अकबर ने किसे अपना घर बना कर अपना राज्य दृढ़ किया और फिर किसके सहारे मुगल साम्राज्य का सितारा प्रतिदिन दिन दूना रात चौगुना चमकता रहा? नहीं। भूषण इसे भी आप ही खोल कर कह देता है। ध्यान से सुनिये और 'बब्बर अकब्बर के बिरद' को भी कृपया हाथ से अलग न जाने दीजिये। वीर कवि भूषण का कथन है—

आदि की न जानो, देवी देवता न मानो, साँच
कहूँ जो पिछानो बात कहत हौं अब की।
बब्बर अकब्बर हिमायूँ हद्द बाँधि गये,
हिन्दू औ तुरुक की, कुरान वेद ढब की।
इन पातसाहन में हिन्दुन की चाह हुती,
जहाँगीर साहजहाँ साख पूरे तब की।
कासी हू की कला गयी, मथुरा मसीत भयी,
सिवा जी न होतो तो सुनति होति सब की।

भूषण ने 'जो पिछानों' का उल्लेख यों ही नहीं किया है। नहीं, इसी 'पिछानों' में राष्ट्रीयता का सारा मर्म छिपा है। देवी देवता को न मानना एक बात है और किसी जाति के चिन्ह का मिटा देना उससे सर्वथा दूसरी बात। भूषण की मार्मिक वेदना तो यह है—

कुम्भकर्न असुर औतारी अवरंगजेब,
कीन्हीं कत्ल मथुरा, दोहाई फेरी रब की।
खोदि डारे देवी देव सहर महल्ला बाँके
लाखन तुरुक कीन्हें छूट गयी तब की।
'भूषन' भनत भाग्यो कासीपति विस्वनाथ,
और कौन गिनती में, भूलि गति भव की।
चारों वर्ण धर्म छोड़ि कलमा निवाज पढ़ि,
सिवा जी न होतो तो सुनति होती सब की।

भूषण के इन कवित्तों में जो बात कही गयी है उसे झुठाने की भरपूर चेष्टा की जा रही है और चारों ओर घूम घूम कर कहा जा रहा है कि आलमगीर ने कभी ऐसा नहीं किया। किन्तु इस प्रकार की उधार खोज की पोल जब तक नहीं खुलती तब तक देश का कोई कल्याण नहीं हो सकता, किसी का हम नहीं कहते, हम तो अखंड भारत की बात कह रहे हैं। हम जानते हैं कि आज कल अनेक सुन्दर लाल अपनी पंडिताई की धुन में न जाने क्या क्या हाँक रहे हैं और न जाने कितने शिबली नामानी न जाने कैसी कैसी सनद जुटा रहे हैं किन्तु सच्ची बात यह है कि—

"अकबर की सल्तनत हिन्दुस्तानी इसलामी सल्तनत थी और औरंगज़ेब चाहता था कि वह इस हिन्दुस्तानी इसलामी सल्तनत के दायरा असर (प्रभारक्षेत्र) को इतनी वसअत (व्याप्ति) दे कि उसके अन्दर खैबरपार के मुल्क भी आ जायें। और हेजाज पर भी इसका इक्तिदार (महत्त्व) हो। और यह उस वक्त तक मुमकिन (सम्भव) न था जब तक वह अपनी हुकूमत को इसलामी रंग न देता, अकबरी सियासत (राजनीति) के बारे में इसलामी दुनिया में जो गलत फहमियाँ (मिथ्या धारणायें) पैदा हो गयी थीं उनको रफा (दूर) न करता। अकबर का सय्यासी मसलक (राजनीतिक पद्धति) राजपूतों को हमवार (समतल) करने के लिये था। औरंगज़ेब के पेशनज़र (दृष्टिपथ में) हिन्दुस्तान के अलावा (अतिरिक्त) इसलामी दुनिया की कयादत (अगुआई) थी। इसलिये एक का हिन्दुस्तानियत पर ज्यादा ज़ोर देना पड़ा और दूसरे को इसलामियत को माकद्दम (अग्रणी) जाना।"

(मौलाना उबैद अल्लाह सिन्धी, सिन्धसागर एकाडमी लाहौर, सन् १९४३ ई०, पृ० ३१३)

औरंगजेब आलमगीर ने इसलाम की साख के लिये जो कुछ किया उसको याद कर दिलाने से कोई लाभ नहीं पर उस पर पानी डालना भी ठीक नहीं। इससे तो वह और भी सड़ा अथवा डहडहा होगा। निदान भूषण की राष्ट्रभावना के प्रसंग में उस पर प्रकाश डालना ही होगा जिससे वह अन्धकार से निकल कर प्रकाश में आ जाय और लोगों का भ्रम भी दूर हो जाय। अस्तु, भूषण भी इसी इसलामी कोप को लक्ष्य कर लिखते हैं—

> साहिन मन समरत्थ जासु नौरंग साहि सिंह।
> हृदय जासु अब्बास साहि बहुबल बिलासथिर।
> एदिलसाहि कुतुब्ब जासु जुग भुज भूवनमनि।
> पाय म्लेच्छ उमराय काय तुरकानि आनि गनि।
> यह रूप अवनि अवतार धरि जेहि जालिम जग दंडियव।
> सरजा सिव साहस खग्ग गहि, कलियुग सोइ खल खंडियव।

तात्पर्य यह कि भूषण ने जो आलमगीर को फटकारा तो उसका कारण

भी प्रत्यक्ष था। आलमगीर सचमुच हिन्दुओं के विनाश पर तुल गया था और उस समय के दूसरे मुसलमान बादशाह भी कुछ ऐसा ही स्वप्न देख रहे थे। अली आदिलशाह के बारे में तो उसके राजकवि शेख मुल्ला नुसरती का यह कथन ही पर्याप्त है जो उसी के मुँह से कहलाया गया है—

कि हूँ मैं समाये नबी का खलफ।
दुआ तिस पै हमनाम शाहे नजफ।
लकब कुफ्रभंजन है मुझ वे गुमां।
सिफत दस्तगीर फरा मादगां।
मेरे काम पर मैं हूँ हाज़िर सदा।
तुमारी बी करनी करो इबतदा।
मदद में हूँ मुज़ी प चल वेग आवो।
लड़ा मत तमाशा वले देख जावो।
कि मुझ फौज दुश्मन सों लड़ती है क्यों।
सती जाके आतिश प पड़ती है क्यों।

औरंगजेब का इतना सुनना था कि—

कह्या मुझ हुआ अब ते हादी फलक।
कि दो नरपती ने कबूल्या कुमक।

'शिर' और 'भुजा' के इस योग का सामना 'शिव' ने किस ढब से किया इसे इतिहास से पूछ देखिये। रही 'हृदय' की बात सो इसी नुसरती का इतना और भी कहना है कि—

मानी की सूरत की है आरसी।
दखिन का किया शेर जों फारसी।

भाव यह कि यहीं से हिन्दी हृदय फारसी में मग्न हुआ और धीरे-धीरे उर्दू में आकर वह सर्वथा अहिन्दी हो गया। भूषण ने कलियुग का जो रूप दिया है वह कितना सारपूर्ण और अवसर का है यह तब तक मूक ही रहेगा जब तक इतिहास की खुली आँख से आप उसे न देखें। कुछ बात ही ऐसी थी कि विवश होकर भूषण को मुगल-दरबार छोड़ना पड़ना और हिन्दू-हित के लिये और कुछ नहीं तो वाणी का उपयोग करना पड़ा। उस समय की

परिस्थिति एक ओर तो ऐसी गठ रही थी पर दूसरी ओर उसका रूप कुछ और ही था। भूषण कहते हैं—

अटल रहे हैं दिग अंतन के भूप धरि,
रैयति का रूप निज देस पेस करि कै।
राना रह्यौ अटल बहाना करि चाकरी को,
बाना तजि भूषन भनत गुन भरि कै।
हाड़ा रायठौर कछवाहे गौर और रहे,
अटल चकता को चँवारू धरि डरि कै।
अटल सिवाजी रह्यौ दिल्ली का निदरि,
धीर धरि, पट धरि तेग धरि, गढ़ धरि कै।

ऐसी विषम परिस्थिति में शिवाजीने जो कुछ किया उसका ठीक-ठीक महत्त्व जानना हो तो भूषण का यह छप्पय पढ़ें—

कलियुग जलधि अपार, उद्ध अधरम्म उर्मिमय।
लच्छनि लच्छ मलिच्छ कच्छ अरु मच्छ मगर चय।
नृपति नदीनद वृन्द होत जाको मिल नीरस।
भनि भूषन सब भुम्मि घेरि किन्नर सुदृप्य बस।
हिन्दुवान पुन्य गाहक बनिक, तासु निबाहक साहि सुव।
वर बादवान किरवान धरि, जस जहाज सिवराज तुव।

सारांश यह कि—

कूरम कमध हाड़ा तूँवर बघेला बीर,
प्रबल बुँदेला हुते जेते दल मनी सों।
देवल गिरन लागे, मूरति लै विप्र भागे,
नेकहू न जागे, साइ रहे रजधानी सों।
सब ने पुकार करी सुरन मनाइबे को,
सुर ने पुकार भारी कीन्हीं विश्वधनी सों।
धरम रसातल को डूबत उबार्यो सिवा,
मारि तुरकान भार बल्लम की अनी सों।

फलतः भूषण को विश्वास हो गया कि—

मच्छहु कच्छ मैं कोल नृसिंह मैं बावन मैं मनि भूषन जो है।
जो द्विजराज मैं जो रघुराज मैं, जाउव कह्यो बलरामहु को है।
बुद्ध मैं जो, अरु जो कलकी महँ विक्रम हूवे को आगे सुना है।
साहस भूमि अधार सोई अब श्री सरजा सिवराज मैं सो है।

प्रकट ही है कि भूषण की यह धारणा एक दिन में नहीं बनी होगी। नहीं इसमें तो न जाने कितने युग बीत गये होंगे। परन्तु यहाँ पर जो बात बड़े महत्त्व की है वह है भूषण की आलमगीर से तनातनी। भूषण पहले कहाँ कहाँ रह कर शिवा जी के दरबार में पहुचे थे इसका कोई पक्का पता नहीं, परन्तु वह कभी मुगल दरबार में भी थे इसमें सन्देह नहीं। उनका एक छन्द है—

> सिवा की बड़ाई औ हमारी लघुताई क्यों,
> कहत बार बार कहि पातिसाह गरजा।
> सुनिये खुमान! हरि तुरुक गुमान, महि—
> देवन जेंवायो कवि भूषन यों अरजा।
> तुम वाको पायकै जरूर रन छोरो, वह
> रावरे वजीर छोरि देत करि परजा।
> मालुम तिहारो होत याहि मैं निबरो रन,
> कायर सो कायर औ सरजा सो सरजा।

'खुमान' का प्रयोग यहाँ आलमगीर औरंगजेब के लिये हुआ है तो इससे यह भी जाना जा सकता है कि कभी दानों की मुठभेड़ भी हुई थी। भूषण के अनेक छन्द ऐसे हैं जिनसे मुगल-दरबार की घनिष्ठता टपकती है। यह एक अति प्रसिद्ध बात है कि पहले भूषण भी अपने भाइ चिन्तामणि के साथ मुगल दरबार में रहते थे और अपनी वीर कविता पर अभिमान करते थे। उधर औरंगजेब को भी इस बात का अभिमान था कि उसे कोई उचेजित नहीं कर सकता। बात ही बात में ठन गयी। भूषण ने अपना बल दिखाने के लिये यह कवित्त पढ़ा—

> किबले की ठौर बाप बादसाह साहजहाँ
> ताको कैद कियो माना मक्के आगि लाइ है।

बड़ो भाई दारा वाको पकरि कै मारि डारयो,
मेहर हू नाहिं माँ को जायो सगो भाई है।
बन्धु तो मुरादबक्स बादि चूक करिबे को,
बीच दै कुरान खुदा की कसम खाई है।
'भूषन' सुकवि कहै सुनौ नवरंगजेब,
एते काम कीन्हें तब पातसाही पाई है।

बात खरी थी तो भी औरंगजेब के संयम ने उसका साथ दिया। लक्ष्य निष्फल होते देख भूषण ने और भी साफ कर कहा—

हाथ तसबीह लिये प्रात उठै बन्दगी को,
आपही कपटरूप कपट सुजप के।
आगरे में जाय दारा चौक मैं चुनाय लीन्हों,
छत्र हू छिनायो मानों मरे बूढ़े बप के।
कीन्हों है सगोत घात सो मैं नाहिं कहौं फेरि,
पील पै तुराय चार चुगल के गप के।
'भूषन' भनत छरछंदी मतिमन्द महा,
सौ सौ चूहे खाइ कै बिलारी बैठी तप के।

निशाना ठीक बैठा। औरंगजेब इतना सुनने को तैयार न था। जीत भूषण की हुई, पर साथ ही 'दरबार' से भी दूर जाना पड़ा।

औरंगजेब की अनीति से ऊब कर भूषण शिवा जी की सभा में गये थे और गये थे हिन्दू का बल दिखाने के विचार से। यदि ध्यान से देखा जाय तो भूषण का जितना विरोध औरंगजेब से है उतना किसी से नहीं। भूषण औरंगजेब की तूरानी-मुसलमानी नीति के घोर विरोधी हैं और चाहते हैं कि अकबर की हिन्दुस्तानी-इसलामी रीति रहे। आलमगीर को यह भाता नहीं और इसी से भूषण का उससे नाता टूट जाता है। भूषण जो कुछ चाहते थे वह शिवा जी से मेल था, पर औरंगजेब जो कुछ चाहता था वह 'बुखारा' का वैभव या तूरानी इसलाम का प्रचार था। फल यह हुआ कि दोनों में ठन गयी और भूषण के मन की हो कर रही। शिव के प्रताप से—

उतै पातसाह जू के गजन के ठट्ट छूटे,

उमड़ि घुमड़ि मतवारे घन कारे हैं।
इतै सिवराज जू के छूटे सिंहराज औ
बिदारे कुम्भ करिन के निकरत भारे हैं।
फौजें सेख, सैयद, मुगल, औ पठानन की,
मिलि इखलास खों हू मीर न सँभारे हैं।
हद हिन्दुवान की बिहद तरवारि राखि,
कैया बार दिल्ली के गुमान झारि डारे हैं।

और इसी गुमान को झरते देख कर तो भूषण ने आलमगीर को बड़े तपाक से ललकारा है—

दारा की न दौर, यह रारि नाहिं खजुवे की,
बाँधिबो नहीं है किधौं मीर सहवाल को।
मठ विश्वनाथ को, न बास ग्राम गोकुल को,
देव को न देहरा, न मन्दिर गोपाल को।
गाढ़े गढ लीन्हें, और बैरी कतलाम कीन्हे,
ठौर ठौर हासिल उगाहत हैं साल को।
बूड़ति है दिल्ली सो सँभारै क्यों न दिल्लीपति,
धक्का आनि लाग्यौ सिवराज महाकाल को।

कहने को कोई कुछ भी कहता रहे, पर यह ध्रुव सत्य है कि वास्तव में शिवराज महाकाल के धक्के से ही मुगल साम्राज्य ढह गया और अन्त में उसका नाम तक न रहा। है कोई इस वंश का कहीं राजा या नवाब? बादशाह तो वह रहा ही नहीं। परिणाम इसका क्या हुआ? यही न—

गढन गँजाय, गढधरन सजाय करि,
छाँड़े केते धरम दुवार दै भिखारी से।
साहि के सपूत, पूत वीर सिवराज सिंह,
केते गढधारी किये बन बनचारी से।
'भूषन' बखानै केते दीन्हें बन्दीखाने,
सेख सैयद हजारी गहे रैयत बजारी से।

महलों से मुगल महाजन से महाराज,
डाँड़ि लीन्हें पकरि पठान पटवारी से ॥

आलमगीर के पोते शाह आलम पर जो कुछ बीती उसे सभी जानते हैं, पर काल के प्रवाह और परवचना के प्रभाव से लोग आज इस 'धर्म दुवार' को भूले जा रहे हैं, अतएव उनको बताया जा रहा है कि कृपा कर इतना और टाँक लें कि—

साहिन के सिच्छक, सिपाहिन के पातसाह,
संगर में सिंह के से जिनके सुभाव हैं,
भूषन' भनत सिव सरजा की धाक ते वै
काँपत रहत चित गहत न चाव हैं।
अफजल की अगति, सायस्ता खाँ की अपति
बहलोल-बिपति सों डरे उमराव हैं।
पक्का मता करि कैं मलिच्छ मनसब छाँड़ि,
मक्का के ही मिस उतरत दरियाव हैं—

ठीक है भूषण अथवा शिवा जी ने इस्लाम का विरोध कब किया था और किसी के मजहब पर हाथ कब फेरा था जो मक्का की यात्रा बन्द हो जाती ! पर आलमगीर के लोग तो बहाना से यहाँ भी अपना काम निकाल लेते हैं। स्मरण रहे भूषण का कहना है—

दान समै देखि द्विज मेरहू कुवेर हू की
संपति लुटाइबे को हियो ललकत है।
साहि के सपूत सिवसाहि के बदन पर,
सिव की कथान मैं सनेह झलकत है।
'भूषन' जहान हिन्दुवान के उबारिबे को,
तुरकान मारिबे को बीर बलकत है।
साहिन सों लरिबे की चरचा चलत आनि,
सरजा-दृगन को उछाह छलकत है।

शिवाजी के इसी शील का तो परिणाम है कि—

डाढ़ी के रखैयन की डाढ़ी सी रहत छाती

बाढ़ो मरजाद जैसी हद्द हिन्दुवाने की।
कढ़ि गई रैयत के मन की कसक सब,
मिटि गई ठसक तमाम तुरकाने की।
'भूषन' भनत दिल्लीपति दिल धकधका,
सुनि सुनि धाक सिवराज मरदाने की।
मोटी भई चडी बिन चोटी के चबाय सीस,
खोटी भई सम्पति चकत्ता के घराने की।

कितनी सटीक बात कही गयी है। 'डाढ़ी के रखैयन' में सारी सुरत आ गयी है। काजी की सारी कजाकी जाती रही और जलन के सिवा उसमें कुछ रह भी न गया। सीधी सी बात तो यह है —

काज मही सिवराज बली हिन्दुवान बढ़ाइवे को उर ऊटै।
'भूषन' भू निरम्लेच्छ करी चहैं, म्लेच्छन मारिबे को रन जूटै।
हिन्दु बचाय बचाय यही, अमरेस चँदावत लौं कोई टूटै।
चन्द अलोक तैं लोक सुखी यहि कोक अभागे को सोक न छूटै।

भूषण ने 'कोक अभागे' का नाम यों ही नहीं लिया है। आज भी कितने अभागे सुन्दर हिन्दू काक बने हैं जिन्हें शिवा जी की चन्द्रिका नहीं भाती और जो इस आलोक में भी आलमगीर का ही साथ देते हैं। उनसे हमारा केवल इतना ही कहना है कि वे सरसैयदी माया से निकल कर अपनी आँख से देखना और सत्य को पहिचानना सीखें और यहाँ इतना जान लें कि—

"लेकिन यहाँ यह सवाल पैदा होता है कि औरंगजेब की फौज में कई शीआ सरदार थे, और इसी तरह उसने बहुत सी मुहिमों (चढ़ाइयों) में हिन्दू सिपहसालारों (सेनापतियों) को भी फौज की कमान दी। अगर औरंगजेब की सियासी हुकूमत अमला (व्यवहारी राजनीति) से शीओं और हिन्दुओं को शिकायत होती तो बादशाह उन को बड़े बड़े ओहदों (पदों) पर कैसे र ने देता। दर असल (वस्तुतः) बात यह है कि एक होती है हुकूमत की पालिसी और एक होते हैं हुकूमत के अहलकार (कर्मचारी) असल मसला (मूल प्रश्न) हुकूमत की पालिसी (राजनीति) का होता है। अहलकार तो मजबूर होते हैं कि हुकूमत की तरफ से जो भी अहकाम

(शासन) उन्हें मिलें उन पर अमल (आचरण) करें। ख्वाह (चाहें) वह दिल से उन्हें अच्छा भी न समझते हों। चुनांचे (निदान) जो लोग हुकूमत के साथ हों और वह उसके नज़ाम (प्रबन्ध) के कल पुरज़े (अंग) बन जायें अमलन् (व्यवहारतः) उनका कोई मज़हब (मार्ग) नहीं होता, मुमकिन (सम्भव) है, वह दिलों में अपने जज़बात (भाव) छिपाये रक्खें और मुनासिब वक़्त (उचित अवसर) पर उनका इज़हार (प्रकाश) भी कर दें। लेकिन जहाँ तक हुकूमत के कामों को चलाने का ताल्लुक़ (संबंध) होता है, वह बग़ैर (बिना) सोच विचार के सब कुछ कर गुज़रते हैं, जो उन से करने को कहा जाता है। सरकारी तबक़ों (वर्गों) के लिये मनसब (पदवी) की कशिश (तृषा) अकसर (प्रायः) दिली रुजहानात (अभिरुचि) पर ग़ालिब (जयी) आजाती है। उसका मज़ीद सुबूत (पुष्ट प्रमाण) आप को हिन्दुस्तान की मौजूदा (वर्तमान) सियासी (राजनीतिक) हालत से मिल जायेगा।" (मौलाना उबैद अल्लाह सिन्धी, वही, पृ० ३१४)

दूर कहां जाइयेगा ? यहीं क्यों नहीं देखते ! अभी कल की बात है महात्मा गान्धी से हुकुम पा कर कितने जीव हिन्दी से हिन्दुस्तानी हो गये और कितने भूषण के शत्रु बन गये, परन्तु वस्तुस्थिति को न बदल सके। सारांश यह कि औरंगजेब की तुरकी नीति ईरानी और हिन्दू के लिये घातक थी। ईरानी तो मज़हब किंवा इसलाम के नाम पर उस से मिल सकता था पर हिन्दू सदा किरकिरी की भाँति उसकी आँख में गड़ता ही रहता था। यही कारण था कि भूषण को उसका विरोध करना पड़ा और शिवा जी के विषय में खुल कर लिखना पड़ा—

दच्छिन-नायक एक तुही भुव-भामिनी को अनुकूल ह्वै भावै।
दीनदयाल न तो सों दुनी पर म्लेच्छ के दीनहिं मारि मिटावै॥
श्री शिवराज भनै कवि 'भूषण' तेरे सरूप को कोउ न पावै।
सूर सुबंस में सूर सिरोमनि ह्वै करि तू कुलचन्द कहावै॥

कवि भूषण के चमत्कार को समझिये और फिर कहिये कि यहाँ 'तुरक' का नाम न ले 'म्लेच्छ' का उल्लेख क्यों किया गया है ? जो लोग 'म्लेच्छ' और 'काफिर' को एक ही कोटि का शब्द समझते हैं उन्होंने भाषा के क्षेत्र में

अभी समझ से काम लेना नहीं सीखा। उन्हें समझ रखना चाहिये कि तुरक जातिवाचक शब्द है और 'म्लेच्छ' भाववाचक। रहा 'काफ़िर' सो अवश्य ही इन से भिन्न धर्मवाचक शब्द स्मरण रहे, भूषण यहाँ 'म्लेच्छ के दीन' का उल्लेख करते हैं कुछ इसलाम का नहीं। 'दुग्गि नायक' और 'अनुकूल' की भी यही गोहार है। यदि विश्वास न हो तो भूषण के इस 'मनहरण' को ध्यान से पढ़े—

तू तौ रातौ दिन जग जागत रहत वेऊ
जागत रहत रातौ दिन बन रत हैं।
'भूषन' भनत तू विराजै रजभरो वेऊ
रजभरे देहिन दरी मैं विचारत हैं।
तू तौ सूर गन को विदारि विहरत सूर,
मडल विदारि वेऊ सुरलोक रत हैं।
काहे तें सिवा जी गाजी तेराई सुजस होत,
तो सों अरिवर सरिवर सी करत हैं

कहा जा सकता है कि यहाँ तो केवल 'अरिवर' की बात कही गयी है इसी से द्वेष बुद्धि का अभाव कैसे सिद्ध होता है। निवेदन है कान दे कर सुनें—

अजौं भूतनाथ मुंडमाल लेत हरषत,
भूतन अहार लेत अजहूँ उछाह है।
'भूषन' भनत अजौं काटे करवालन के
कारे कुजरन परी कठिन कराह है।
सिंह सिवराज सलहेरि के समीप ऐसा,
कीन्हों कतलाम दिली दल को सिपाह है।
नदी रन मंडल रुहेलन-रुधिर अजौं,
अजौं रवि मंडल रुहेलन की राह है।

भाव यह है कि भूषण की दृष्टि में रुहेले भी उसी वीरगति को प्राप्त होते हैं जिसको अन्य हिन्दू वीर। कुछ यह नहीं कि फ़ारसी इतिहास लेखकों की भाँति वैरी मरा तो कह दिया कि दोजख का कुत्ता जहन्नुम में गया। नहीं,

ऐसी दुर्भावना हिन्दू-हृदय में नहीं आती। नहीं, यह तो मुसलमानी लोगों में ही पायी जाती है। फारसी की किताबों को छोड़िये, वहाँ तो हिन्दू के लिये कोई अच्छा शब्द ही नहीं। शिवा जी के लिये भी 'दक्खिनी' में शेख मुल्ला नुसरती ने जल कर यहाँ तक लिख दिया कि—

जो कोइ कार बद का जो पापी है बद,
हुवा नाव तिस लानती ता अबद,
खुदा पास ना उस कों बेहबूद है।
सलायक कने नो वह मरदूद है,
एता बात कों काढ़ मूजी का नाम,
कि कायम हुवा फितना जिस थे तमाम,
सेव्या कर जो एक फितन: अंगेज़ था,
बड़ा चोर मूजी व खूँरेज़ था।
दकन की जमीं बीच तुख्मे फसाद,
जो पैन्या सो अव्वल यही बद निहाद।
रैय्यत जता ख्वार उस शूम थें,
हुवा मुल्क वीराना तिस शूम थें,
जा बद अस्ल था सो बड़ा हार नहा।
सिक्या उस थें साहब से बागीपना।

बात यहीं तक रह जाती तो शेख को सन्तोष कैसे होता? निदान और भी खुल कर कहा गया—

भरया था सब उस ज़ात में मक्र व रेब।
दिसे आदमी रूप पर नस्ल देव।
दिखावे जो टुक अपनी तबलीस कों।
लगी वहं लाहौल इब्लीस कों।
फिरंगी ये था कुफ्र में बत अबाद।
करे दीन सों दुस्मनी सख्त बद।

शिवाजी की यह स्तुति यदि शेख मुल्ला नुसरती से आगे न बढ़ती तो आज मौलवी अब्दुल हक़ जैसे डाक्टर भी उसे क्यों कोसते? जो हो,

यह स्पष्ट लिखता है—

> खुदा पास ना उसको बेहबूद है।
> खलायक कने तो यह मरदूद है।

क्यों न हो, खुदा के यहाँ किसी हिन्दू को अच्छा स्थान कहाँ और दुनिया में उसका सत्कार कहाँ ? इसलाम हिन्द में क्या आया हिन्दू दीन और दुनिया दोनों से गया ? उसके लिये कहीं सम्मान नहीं रहा, परन्तु हिन्दू ने कभी मुसलमान का इस दृष्टि से नहीं देखा। नहीं, उसकी न्याय-बुद्धि सदा बनी रही। फलत भूषण ने भी शिवाजी की सफलता में यही देखा—

> राखी हिन्दुवानी, हिन्दुवान को तिलक राख्यो,
> अस्मृति पुरान राखे, वेद-विधि सुनी मैं।
> राखी रजपूती रजधानी राखी राजन की,
> धरा में धरम राख्यौ, राख्यो गुन गुनी मैं।
> 'भूषन' सुकवि जीति हद मरहट्टन की,
> देस देस कीरति बखानी, तब सुनी मैं।
> साहि के सपूत, सिवराज समसेर तेरी,
> दिल्ली-दल दाबि के दिवार राखी दुनी मैं।

कौन है, जो सामने आकर सचाई के साथ कह सकता है कि इसमें इसलाम की भर्त्सना है ? निश्चय ही, शिवाजीने दिल्ली दल को दबा कर संसार में मर्यादा की स्थापना कर दी और—

> वेद राखे विदित, पुरान राखे सारयुत,
> राम नाम राख्यो अति रसना सुघर मैं।
> हिन्दुन की चोटी रोटी राखी है सिपाहिन की,
> काँधे में जनेऊ राख्यौ, माला राखी गर मैं।
> मीड़ि राखे मुगल, मरोड़ि राखे पातसाह,
> बैरी पीसि राखे बरदान राख्यो कर मैं।
> राजन की हद्द राखी तेग बल सिवराज
> देव राखे देवल स्वधर्म राख्यौ घर मैं।

बस, भूषण इसी 'हद्द' और इसी 'स्वधर्म' के पुजारी हैं। राजनीति के

क्षेत्र में उनके इस स्वधर्म को देखना हो तो उनका यह कवित्त है—

> जोर रूसियान को है, तेग खुरासनहू की,
> नीति इगलैंड, चीन हुनर महादरी.
> *हिम्मत अमान मरदान हिन्दुवान हू की.*
> रूम अभिमान, हबसान हद कादरी।
> नेकी अरबान, सान-अदब ईरान त्यों ही
> क्रोध है तुरान ज्यों फरास फन्द आदरी।
> 'भूषन' भनत इमि देखिये महीतल पै
> बीर-सिरताज सिवराज की बहादरी।

इसमें विविध जातियों की जो विशेषता कही गयी है उसे इतिहास की दृष्टि से आँकें और कृपा कर इतना जान लें कि भारत के मुसलमानों में अरब कुछ ही हैं अतएव उनमें नेकी की मात्रा भी अल्प ही है। उनमें जो ईरानी हैं आज भी अपनी 'शान' और अपने 'अदब' पर कुरबान हो रहे हैं। परन्तु संख्या और शक्ति में उनसे कहीं अधिक हैं तूरानी। फलतः उनके 'क्रोध' का पारावार भी प्रति पल उमड़ रहा है और फिर वही दृश्य उपस्थित हो गया है जो कभी आलमगीर औरंगजेब के शासन में था। अस्तु-आज भी आवश्यकता है— 'दिल्ली-दल दाबिकै दिवार राखो दुनी मैं' की। किन्तु यह तभी संभव है जब आज भी 'खान' लोगों को इस बात का बोध हो जाय कि—

> साहु लगि आगे, सता साहु मति यारो,
> गदनाह के डरन कहै खान यों बखान कै।
> 'भूषन' खुमान यह सो है जहि पूना माहि,
> लाखन में सासतखाँ डारयो बिन मान कै।
> हिन्दुवान द्रुपदी की इजति बचैबे काज,
> झपटि बिराटपुर बाहर प्रमान कै।
> वहै है सिवाजी जेहि भीम है अकेले मारयौ,
> अफजल कीचक सो कीच घमसान कै।

और यह असंभव नहीं। कारण कि—

बिना चतुरंग संग बानरन लैकै बाँधि,
बारिधि को, लंक रघुनन्दन जराई है।
पारथ अकेले द्रोन भीषम सों लाखभट,
जीति लीन्ही नगरी, बिराट मैं बड़ाई है।
'भूषन' भनत है गुसलखाने मैं खुमान,
अवरंग साहिबी हथ्याय हरि लाई है।
तौ कहा अचंभो महाराज, सिवराज, सदा
बीरन कै हिम्मतै हथ्यार होत आई है।

सच है साहस में ही श्री बसती है।

१२-देव और बिहारी का आचरण

मतिराम-ग्रन्थावली के अध्ययन से यह स्पष्ट अवगत हो जाता है कि मिश्र जी दोषों या गुणों को दृष्टि में रख कर ही किसी कवि का अवलोकन करते हैं। देव और बिहारी के विषय में आप का कथन है कि 'बिहारी की कविता पढ़ने में जितना समय लगाया है उतना देव की कविता में नहीं। यदि यह ठीक है तो आप का बिहारी का अध्ययन देव की अपेक्षा कहीं अधिक गंभीर और व्यवस्थित होगा क्योंकि बिहारी की कविता परिमाण में देव से बहुत ही कम है। परन्तु इस कथन से समीक्षा के क्षेत्र में कुछ लाभ नहीं हो सकता। इस प्रकार आप बिहारी के विरोध से भले ही बच जायँ, पर देव के विरोध से तो नहीं बच सकते। देव का विरोध भी अनुचित पक्षपात हो है। पक्षपात से मिश्र जी को बहुत चिढ़ है। पर बार बार निष्पक्षपातता की उद्घरणी करने से हमको तो सन्देह होने लगता है। मिश्र जी की भाँति हमारी भी यह धारणा है कि लेखक या कवि अपनी रचना में प्रतिबिंबित रहता है। मिश्र जी देव का पक्ष लेते हुए ललकारते हैं कि देव जी! कौन कह सकता है कि तुम बिहारीलाल से किसी बात में कम हो? यदि अनुचित न हो तो हम इतना कहने की धृष्टता कर सकते हैं कि यह खुला पक्षपात ही नहीं, अनिष्ट चुनौती भी है। मिश्र जी ने देव का पक्ष लिया है, यह इतनी सीधी और सच्ची बात है कि इस पर कुछ विचार करना समय को नष्ट करना है। यहाँ हम केवल इतना ही कह देना पर्याप्त समझते हैं कि मिश्र जी की दृष्टि देव के गुणों और बिहारी के दोषों पर विशेष रही है अतः कम समय पाने पर भी देव जी लाभ ही में रहे हैं। घाटा तो बिहारी के बाँटे पड़ गया है।

मिश्र जी का निर्णय है कि देव जी काव्य में ही नहीं आचरण में भी बिहारी से कहीं बढ़ कर हैं। बिहारी के विषय में आप का कथन है—

'तरयोना' का श्रुति सेवन एवं मुक्तन' के साथ 'बेसरि' का नाक वास

तथैव किसी की चाल से पद पद पर प्रयाग का बनना हमें लाचार करता है कि हम बिहारी लाल के धार्मिक भावों की अधिक छान बीन करें।...बिहारी लाल की प्रेम-लीला की तो थाह ही नहीं मिलती। वहाँ तो

परयो जोर विपरीति रति, रुपो सुरत रनधीर;
करत कुलाहल किंकिनी, गह्यो मौन मजीर'।

से वर्णन पढ़कर अवाक् रह जाना पड़ता है। कुरुचि और सुरुचि प्रवर्तक प्रेम तू धन्य है !" मिश्र जी का भी यह कथन हमें लाचार करता है कि हम मिश्र जी की समीक्षा-शक्ति और 'निष्पक्षपातता' की छानबीन अधिक न करें।

मिश्र जी को 'तुलसीदास का विराट् शरीर' बिहारी की 'नायिका के अंगों में' परिलक्षित होता है। फिर भी आप की आँखें नहीं खुलती प्रत्युत पाल की भाँति दिव्य ज्योति को देख कर चकाचौंध हो जाती है। स्त्रियों का युग आ गया है। अब उनमें—ही नहीं तो भी—विराट् शरीर का दर्शन होगा। घबराने की कुछ बात नहीं। उनका सत्व पुरुषों से कम नहीं है। उनका सयोग तो देव जी की दिव्य दृष्टि में योग से भी कठिन है। देव जी का सिर धुनना तो देख लीजिए। कहते हैं—

'योग हू ते कठिन सयोग पर नारी को।'

अब इनकी कौन कहे ? सयोग' योग से है भी अधिक।

बिहारी की धार्मिक भावना तथा आचरण पर स्वतन्त्र विवेचन की लालसा से हम यहाँ पर नहीं पहुँचे हैं। हमारा मन्तव्य तो देव के साथ ही साथ चलने का है। परन्तु यहाँ धार्मिक भावना के आ जाने के कारण कुछ विचार कर लेना अनुचित नहीं कहा जा सकता।

महर्षि दयानन्द की कृपा से हम श्रुति के भक्त बन गये हैं; पर अभी वह 'श्रुति' ही है, 'वेद' नहीं। उनमें वेद की जिज्ञासा थी और हम में श्रुति की उपासना। अतः हम भक्त ही हैं, ज्ञानी नहीं। रामचरित मानस का अध्ययन हम स्वामी जी की आज्ञा का उल्लंघन कर के कर ही लेते हैं। हम तो इसको भक्ति की विजय ही समझते हैं। प्रस्तुत पद्य में इसी भक्ति का प्रतिपादन और सत्संग की महिमा का वर्णन है। यह भक्ति अथवा सत्संग श्रुति का विरोधी नहीं है, श्रुति प्रतिपाद्य ही है। मुक्तों के संग बस कर

स्वर्गनिवास प्राप्त कर लेना किसी मनीषी को खटक ही नहीं सकता। बिहारी मोक्ष की बात तो कहते ही नहीं हैं। कारण मोक्ष ज्ञान का विषय है। उसके लिए कठिन श्रम करना ही पड़ता है। प्रकृत प्रश्न का निदर्शन बाबा तुलसीदास ने मणि और, दीपक के रूपक में कर ही दिया है। देखने और समझने का कष्ट उठाना चाहिए।

यदि विश्वास न जमे तो एक बार फिर बिहारी का दोहा पढ़िए।

"अजौं तरयौना ही रह्यौ श्रुति सेवत इक अंग।
नाक बास बेसरि लह्यो बसि मुकतन के संग।"

श्रुति सेवत इक अंग (रंग) के आग्रह पर ध्यान दीजिए और आचार्यों के विवेचन पर विचार कीजिए। स्पष्ट अवगत हो रहा है कि ज्ञान से भक्ति सुगम और सहज है। भक्त परमात्मा का अबोध बालक है, वह सभी को प्रिय है। सब कुछ उसको प्रिय है। उसके हानि लाभ का भार परमपिता परमात्मा पर है। अतः उसको सब कुछ सुलभ है। पर ज्ञानी तरुण पुत्र है। उसको अपना मार्ग स्वयं खोजना है। भटकता है, भटकता रहे। मार खाता है, डर नहीं। बस, भगवान् को उसकी चिन्ता नहीं। यदि मिश्र जी को 'तरयौना' 'बेसर' से अच्छा लगता हो तो बात ही और है।

बिहारी की धार्मिक भावना का प्रसंगतः विवेचन हो चुका। अब उनके आचरण पर कुछ विचार करना है। पश्चिमीय संस्कृति में धर्म और आचरण की सत्ता भले ही अलग अलग हो, पर हमारे यहाँ तो सदा से आचरण ही धर्म की कसौटी रहा है। ज्ञानी भी अधर्मी हो सकता है, होता है। अस्तु, किसी के आचरण पर विशेष ध्यान देना चाहिए।

बिहारी के आचरण पर हम उसी अंश तक विचार करने को उत्सुक हैं जहाँ तक मिश्र जी की गति है। स्वतन्त्र विचार अन्यत्र ही समय है। पर इस बात को भी स्मरण रखलेना चाहिए कि सारतः जो पिंड में है वही ब्रह्माण्ड में भी है।

'देव और बिहारी' के लेखक ने हमको विवश कर दिया है कि हम उनके आचरण की कुछ समीक्षा करें। क्या ही अच्छा होता• यदि हम इस झमेले से दूर रह पाते! पर यह कठिन काम भी करना ही होगा।

अच्छा, तो सबसे पहले हम बिहारी के इसी दोहे के बारे में कुछ कहना चाहते हैं जिसको देखते ही मिश्र जी का बोलना बन्द हो जाता है और उनको "अवाक् रह जाना पड़ता है"। वह दोहा यह है। सजग होना वांछनीय है।

"परयौ जोर, विपरीत रति रूपी सुरत-रनधीर।
करति कुलाहलु किंकनी, गह्यौ मौन मंजीर।"

बिहारी के प्रस्तुत दोहे के अर्थ में कुछ मतभेद है। फिर भी रत्नाकर' जी का अर्थ देना ही हम अलं समझते हैं--

"(अवतरण, रंग महल को सखियाँ किंकिणी के बजने से प्रौढ़ा नायिका की विपरीत-रति का अनुमान करके आपस में कहती हैं—

(अर्थ)—मंजीरों ने (जो कि पुल्लिंग होने के कारण नायक पक्ष के हैं और जो कि अब तक नायक के तथा अपने ऊर्ध्ववर्ती होने के कारण बोल रहे थे, अर्थात् अपने पक्ष का उत्कर्ष विघोषित कर रहे थे, अब मौन धारण कर लिया है, (और) किंकिणी (जो कि स्त्रीलिंग होने के कारण नायिका के पक्ष की है, और जो कि अब तक नायिका के तथा अपने दबे रहने के कारण दबी अर्थात् चुप थी, अब) कोलाहल कर रही है। (इन बातों से जान पड़ता है कि अब) जोड़ (नायिका का जोड़ अर्थात् प्रतिद्वन्द्वी, नायक) पड़ गया (नीचे आ गया है) (और) सुरत-रणधीर (नायिका) विपरीत में दृढ़तापूर्वक स्थिर हो रही है (अर्थात् डटी हुई है)।"

लाख प्रयत्न करने पर भी हम उस कारण से अपरिचित ही रह गए हैं जिसके कारण मिश्र जी को अवाक् रह जाना पड़ता है। हो सकता है कि यह हमारी बुद्धि की दुर्बलता हो, पर हमारा साथ तो वह। देती है? कभी कभी कुछ मित्रों के मुंह से भी कुछ ऐसी बातें निकल पड़ती हैं जिनसे यह स्पष्ट जान पड़ता है कि मिश्र जी के कथन का उन पर पूरा प्रभाव पड़ा है। उन मित्रों में कुछ तो ऐसे मिल जाते हैं जो प्रस्तुत दोहे के अर्थ से भी अपरिचित होते हैं। समालोचना का भी जीवन में एक मुख्य स्थान है। अतः सोच समझ कर ही होनी चाहिए। जहाँ तक हम समझ सके हैं, इस दोहे में दो ही बातें ऐसी मिल सकती हैं जिनसे कुछ निराली धारणायें व्यक्त हो कर पनप सकती हैं। एक तो उसमें विपरीत-रति का वर्णन और दूसरा

उसका परिणाम या प्रभाव। निदान वस्तु विधान और परिणाम पर विचार करना अत्यन्त आवश्यक है।

विपरीत रति का वर्णन हिन्दी की बपौती है। इसको यह परिपाटी परम्परा से मिली है। हिन्दी-साहित्य में रति या विपरीत रति का वर्णन देख कर चौंकना अपनी कूप-मण्डूकता का विज्ञापन करना है। हमारे कहने का आशय यह कदापि नहीं है कि हम भी काव्य को एक संकुचित घेरे में घेर कर उसकी दुर्गति करें। रति या विपरीत रति के वर्णन के बिना भी हमारी कविता हरी भरी रह कर फल-फूल सकती है। हमारे कहने का तात्पर्य तो केवल इतना है कि प्राचीन कवियों को इसके कारण दुराचारी समझ बैठने का साहस, भूल कर भी नहीं करना चाहिए। एक समय था जब शृंगार-रस के परिपाक में इसका वर्णन आवश्यक समझा जाता था। आज भी तो केवल विवाहित व्यक्तियों के लिए बहुत-सी पुस्तकें क्या 'सीखें' तक निकलती जा रही हैं? उनके लेखकों को हम बुरा कहाँ समझते हैं? अस्तु, यदि बिहारी ने विपरीत रति का वर्णन कर दिया तो उनको दोषी नहीं ठहराना चाहिए। यदि आज कल के नवयुवक बिहारी को कोसते, ब्रजभाषा पर छी करते, तो हमको उतना क्षोभ न होता जितना ब्रजभाषा के भक्त मिश्र जी के इस कथन से हो रहा है। रवर का प्रयोग करने वाला युग रीति-काल को व्यर्थ ही कोसता है। उसे अपने घर के अँधेरे को पहले भगाना चाहिए।

हाँ, विपरीत रति का वर्णन तो देव जी ने भी किया है, और मिश्र जी के मतिराम जी ने तो उसका अनुमोदन भी जी खोल कर किया है। यही नहीं, मनोविज्ञान में भी इसको जगह मिली है। मतिराम जी उसी के आधार पर स्यात् कहते हैं—

> कहति साँच तू भावतो, मेरे चित अति प्रीति।
> किये बिना विपरीत रति, हिये न होति प्रतीति।

बस, विपरीत रति के वर्णन के कारण बिहारी का आचरण भ्रष्ट नहीं समझा जा सकता। देव जी के 'अष्टयाम' में विपरीत रति के चित्रों का वर्णन तो है ही, यह उनकी नायिका का दैनिक कार्य भी है। और इसके लिए समय भी नियत है। अतः यदि यह बुरा है, बिहारी दुराचारी हैं तो इसी

कारण देव उनसे घट कर नहीं प्रत्युत बढ़ कर ही सिद्ध होते हैं।

वस्तुतः वस्तु विधान में ही किसी के आचरण की झलक मिलती है। उसी में किसी की संस्कृति डूब कर कुछ निकालती है। अतः इस विधान का रहस्य समझना चाहिए। बिहारी के दोहे से स्पष्ट है कि कवि विपरीत रति क्रिया दम्पति से दूर है। उसका वर्णन वह अंतरंगी सखियों से कराता है। सखियाँ भी लुक छिप कर दम्पति की रति को देखती नहीं हैं। नहीं, उनमें संयम है और है मर्यादा का पक्का पालन। उनकी प्रतिभा प्रखर है, जो अनुमान से ही सब कुछ ताड़ लेती हैं, और सहज स्वभाव के कारण ही अपने पक्ष की विजय पर मुग्ध होती हैं। बिहारी किसी भी वर्णन में दम्पति की रति मुद्रा पर दृष्टि नहीं देते। किसी के सम्भोग को देखने का विधान यहाँ नहीं है। हमारी सभ्यता इसको सभ्य नहीं समझती। हर्ष की बात है कि बिहारी इसकी रक्षा करते हैं। और देव ? देव की बात ही निराली है। उनकी नायिका तो—

छतियाँ छुवाइ कैरी पावै पिया के अधर छोर मुनि रसना रसाइ ऊँचे उचिकै।

स्मरण रहे, यह ऐसी वैसी नायिका नहीं है, 'अष्टयाम' की आदर्श नायिका है।

"जोबन दिवाये भौंह मधन मधन मौंह" आदि को पढ़ लीजिए और विचार कर देखिए कि कवि की दृष्टि कहाँ है ? देव जी स्वयं तो विपरीत रति को देखते ही हैं, हमें भी देखने को निमन्त्रण देते हैं। न जाने मिश्र जी की धारणा इसके विषय में क्या है। पर हम तो देव को इसके लिये फटकारना ही ठीक समझते हैं। बिहारी की नायिका का 'कुलाहल' यहाँ इतना सार बन गया है। देव ही क्यों ? मतिराम भी यहाँ अधिक सावधान नहीं हैं। उनके यहाँ भी वही बात है—

> बैठि रहै, रोवै, हँसै, आतुर उतरि उताल।
> प्रथम सुरति विपरीत की, रीति न जानति बाल।

हम इस परेट को अधिक नहीं देखना चाहते। मिश्र जी की इच्छा कुछ भी हो, पर हमको तो बिहारी का आचरण इस दोहे में देव और मतिराम

से कहीं अधिक संयत और श्रेयस्कर जान पड़ता है। सचमुच उनकी प्रेम लीला अपार है।

प्रेम का नाम आते ही कुछ प्रेम को परखने की लालसा जगी, परन्तु मिश्र जीके प्रेम प्रबन्ध का पढ़ने से वह कुठित हो गई।

कारण, मिश्र जी का कथन है—

"बिहारीलाल की अपेक्षा देवजीने प्रेम का वर्णन अधिक और क्रमबद्ध किया है। उनका वर्णन शुद्ध प्रेम के प्रस्फुटन में विशेष हुआ है। बिहारीलाल का वर्णन न तो क्रमबद्ध ही है, न उसमें विषय-जन्य और शुद्ध प्रेम में बिलगाव उपस्थित करने की चेष्टा की गई है"।

मिश्रजी एक सिद्ध समालोचक हैं, अतः उनकी बातों में सन्देह करना अथवा उनसे कुछ कहना-सुनना कठिन दिखाई पड़ता है। अतः हम भी कुछ काल के लिए आपकी बात माने लेते हैं, किन्तु आपसे यह जान लेना चाहते हैं कि देवजी ने 'शुद्ध प्रेम और विषय-जन्य प्रेम में बिलगाव उपस्थित करने को चेष्टा' हो की है या उसमें कुछ सफल भी हुए हैं! हमारी आँखो के सामने तो कोई और ही देव फिर रहे हैं। वे किसी से कुछ कह रहे हैं। उनके हृदय का शुद्ध प्रेम बह रहा है। तनिक देखिए तो—

देव कहै तुम हो कपटी तिरछी अँखियाँ करिकै तकती हो।
जानि परै न कछू मन की मिलिहौ कबहूँ कि हमें ठगती हो!

भला इससे बढ़ कर शुद्धप्रेम का जाप करने का मन्त्र अन्यत्र कहीं मिल सकता है?' सच्चे' और 'उदार' प्रेमी देव जी की नायिका कपटी होगी, इसका विश्वास हमको तो नहीं होता। पर देव जी उसको पाकर क्या करेंगे, यह भी तो देखना है? हमारी समझ में तो उसके सुख के लिए अपना सब कुछ दान कर एड़ी-चोटी का पसीना एक कर देंगे। पर उस युवती नायिका का वास्तविक सुख मिलेगा कब! देव जी स्वयं कहते हैं—

'तौ लगि जाने कहा जुवती सुख जौ न जुवा दिन जामिन जूटै'।

फिर क्या है? देव जी देव हो ठहरे! दिन-रात का कैसा बढ़िया हिसाब है!!

इधर उधर की बातों से कुछ विशेष लाभ नहीं होता। हम भी 'देव और बिहारी' के बाहर नहीं जाना चाहते थे, पर करते क्या? देव जी के साथ इधर-

उधर भटकना ही पड़ा। क्षमा तो मिलती ही रहती है. निदान शुद्ध प्रेम की तन्मयता को थोड़ा और देख लें। कहते हैं—

> राधिका कान्ह को ध्यान धरै, तब कान्ह ह्वै राधिका के गुन गावै
> त्यों अँसुवा बरसे बरसाने को, पाती लिखै लिखि राधे को ध्यावै,
> राधे ह्वै जात घरीक में 'देव', सु-प्रेम को पाती लै छाती लगावै,
> आपुने आपु ही में उरझै, सुरझै बिरझै समुझै समुझावै।

सुनिए मिश्र जी हमसे कह रहे हैं—

"देखिए कितना ध्यान तन्मयता है और कवि का कविता की प्रवेश कितना सूक्ष्म है"। ऐसी बातें छोटी बुद्धि में समा नहीं सकतीं। अतः लाचारी है। पर एक बात तो अवश्य जान लेनी चाहिए। वह यही कि कभी देव जी की राधिका होश में भी आती है या सदा यों ही प्रिय और प्रिया का अभिनय ही करती रहती है? उरझै, सुरझै बिरझै, समुझै और समुझावै की झौं' तो हमको छै-सी जान पड़ती है? न जाने वह किसकी समझ से समझती और फिर किसको समझाती है? वह तत् कौन है जिसमें वह मग्न या लीन होती है। यह प्रेम है या शुद्ध व्याधि? देव जी कहते हैं यह दशा राधिका की तो तब होती है जब वह कान्ह का ध्यान धरती है। पर इस ध्यान का भूत कब उतर जाता है, इसका पता नहीं। तब शब्द चिल्ला कर कह रहा है कि देव जी सच्चे प्रेमी नहीं और चाहे जो कुछ हों। अस्तु प्रस्तुत पद्य में तन्मयता या तल्लीनता का नाम तक नहीं है। हाँ, उसका नाट्य अवश्य है।

देव वास्तव में एक मनस्वी कवि थे और मनीषी बिहारी को पछाड़ने के विचार से ही उनके इस दोहे के भाव को ले उड़े—

> पिय के ध्यान गही गही, रही वही ह्वै नारि,
> आप आप ही आरसी लखि रीझति रिझवारि।

'नाटकीय देव' के जादू का प्रभाव मिश्र जी की प्रतिमा पर इस ढंग से पड़ा कि वह बिहारी के इस दोहे में भी जादू देखने लगी। मिश्र जी कहते हैं—

"दर्पण में अपना स्वरूप न दिखलाई पड़कर प्रियतम के रूप का नेत्रों के

सामने नाचता हुआ प्रतिबिम्ब उसे प्रत्यक्ष सा हो रहा है। इसी रूप को निहार-निहार वह रीझ रही है।"

मिश्र जी को उसका 'नाचना' ही अच्छा लगता है, लगे। देव जी के नाटक का गहरा अध्ययन जो कर चुके हैं! किन्तु भाई, प्रतिबिम्ब तो तभी नाचने की धृष्टता कर सकता है जब बिम्ब भी नाचे! तो क्या दर्पण के सामने नायिका नाच रही है? इसे समालोचकों की चार आँखें ही देख सकती हैं। और प्रतिबिंब नाचता ही नहीं है, प्रत्युत वह स्वयं तो है नायक और बिंब है नायिका। कैसा अपूर्व नाच है? मिश्र जी क्षमा करें। बिहारी की नायिका को गड़बड़झाले से सुरक्षित रहने दें। आप की कामना अन्यत्र पूरी हो सकती है। देव और मतिराम बाट जोहते हैं। सिर पर चढ़ कर जादू वहीं बोलता है।

आह! कलेजा थाम कर कहना ही पड़ता है कि मिश्र जी ने सब कुछ चौपट कर दिया। दोहे का सीधा सादा भाव यह है—

"नायिका, नायक के ध्यान में निमग्न होकर तद्रूप हो रही है, और नायक ही की मनोवृत्ति सी उसकी मनोवृत्ति हो गई है। अतः जिस प्रकार नायक उसको देखकर रीझता है उसी प्रकार वह अपना रूप आरसी में देखकर रीझती है।"

नायिका का प्रतिबिंब ही इस प्रकार नायिका रह जाता है और स्वयं नायिका तन्मयता के कारण नायक बनकर अपने आप पर ही रीझती है। हम तो इसी को प्रेम का अद्वैत समझते हैं। इसमें लोकपक्ष भी निहित है और प्रेमपक्ष भी। नियत समय पर सज-धज कर दर्पण देखना, प्रिय का ध्यान करना और तन्मय होकर अपने को प्रिय में लय कर देना—भारतीय संस्कृति का यही तो आदर्श है! यह जीव और ब्रह्म का मिलन नहीं तो उसका आभास तो अवश्य ही है। हृदयंगम तो हो ही गया। हाँ, प्रेम, वास्तविक प्रेम, भारतीय प्रेम, यही है, यही है, यही है।

देव जी के प्रेम-प्रपंच और बिहारी के प्रेम-प्रवाह का निदर्शन हो चुका। अब उनके आचरण की छान-बीन आवश्यक हुई। तो पुरुष के आचरण की कसौटी स्त्री ही है। अतः लगे हाथों यह भी देख लेना चाहिए कि ये लोग उसको किस दृष्टि से देखते हैं।

लोगों की यह धारणा पक्की होती जा रही है कि बिहारी स्त्रियों के फेर में घाटों पर फिरा करता था, अतः हम घाटिया बिहारी पर ही विचार करना इष्ट समझते हैं। सामने देखिए। एक युवती स्नान करके चली आ रही है। और उसको किस दृष्टि से देख रहे हैं? उसकी स्वाभाविक मुद्रा क्या है? बिहारी जी भी वही तो कहते हैं—

> बिहँसति-सकुचति-सी दिए कुच-आचर बिच बाँह;
> भीजे पट तट को चली न्हाय सरोवर माँह।

जो लोग कुच को कलंक की टिकिया अथवा स्त्री को परी समझते हैं उनकी बात हम नहीं करते। साधारणतः सब को युवती की इस मुद्रा पर गर्व होगा। यही, हाँ, यही यहाँ की देवियों का स्नान के उपरांत की मूल मुद्रा है। अच्छा मान लीजिए कि बिहारी का यह काम भी अनुचित ही हुआ। हमको इसमें कुछ आपत्ति नहीं। बस, हम तो उनका देव के साथ देखना चाहते हैं। सो देखिए देव जी उसी युवती का वर्णन किस भाव से करते हैं और उनका लक्ष्य क्या है?

> कूल चली जल केलि कै कामिनी ।।वते कै सँग माति भली सी।
> भींजि दुकूल में देह लसै कवि 'देव' जू चंपक चारु कली सी।
> बारि के बूँद चुवैं चिलकैं अलकैं छवि की छलकै उछली सी।
> अंचल झीन झकैं झलकैं पुलकैं कुच कद कदब कली सी।

हमारी समझ में देव जी का पद्य बिहारी के दोहे का भाव लेकर बना है। यदि नहीं तो देव जी स्वयं जलकेलि देख रहे हैं। तुलना में मिश्र जी ने इस पद्य को संभवतः कुछ कम समझ कर ही नहीं लिया और उन्होंने इसके स्थान पर इस पद्य को देना ही साधु समझा—

> पीत रंग सारी गोरे अंग मिलि गई 'देव',
> श्रीफल-उरोज-आभा आभासै अधिक सी;
> छुटी अलकनि झलकनि जल बूँदनि की,
> बिना बेंदी बदन बदन सोभा बिकसी।
> तजि तजि कुंज पुंज ऊपर मधुर पुंज गुंजरत,
> मधुवर बोलै बात पिक सी;

नीवी उसकाय, नेक नैनन हँसाय, हँसी
ससि मुखी सकुचि सरोवर ते निकसी ।

अस्तु, जो नायिका प्रथम पद्य में कूल को चली थी, दूसरे में वही पानी में निकसी।

देव जी के पद्यों की काव्य-दृष्टि से समीक्षा करने का समय नहीं है। अतः 'विश्वैनी' 'कुंज पुंज' और 'मधुप-पुंज' आदि पर विचार करना न होगा। बस, हमें तो यहाँ केवल यही कहना है कि मिश्र जी ने जो प्रयास इस पद्य को सुलझाने में किया है यह मिश्र जी के योग्य नहीं है। इससे देव की महिमा बढ़ती-नहीं, प्रत्युत घट जाती है। नारी-रक्षा में उसे सुरति का स्मरण आता है, सूखे वस्त्रों के लिए सरोवर तट पर खड़ी सखी को सचेत करना पड़ता है और भयभीत होकर भ्रमरों को समझाना भी आवश्यक हो जाता है, आदि ऐसी अनर्गल बातों पर विचार करना हम नहीं चाहते। हम तो केवल मिश्र जी की उसी उदार चेष्टा का निदर्शन करना चाहते हैं जिसके कारण उनको, 'नीवी उकसाने में हाथों के अटक जाने के कारण ही श्रीफल-उरोजों की गौर आभा . अधिक अधिक आभासित हो रही है''—लिखना पड़ा है। खेद है कि देव जी की नायिका में वह लज्जा नहीं, जिसको मिश्र जी दिखाना चाहते हैं। देव जी स्वयं भी तो उसी आभा को देख रहे हैं? यही कारण है कि पीत रंग की सारी गोरे अंग में मिल जाती है। यदि मिश्र जी के कथनानुसार नायिका के दोनों हाथ नीवी को उकसा रहे हैं तो कहना पड़ता है कि नायिका परले दरजे की फूहड़ है। कुछ ध्यान देने से स्पष्ट हो जाता है कि देव जी की नायिका में लज्जा का नाम तक नहीं है। 'सकुचि' शब्द में इतना बल नहीं है कि वह चूँ भी कर सके। नायिका का हँसना और हँसाना हमारे कथन को पुष्ट करता है। अलकों में जल की बूदों की झलक से स्पष्ट ही है कि वह अपना रूप तथा उरोजों की आभा देर तक खड़ी खड़ी दिखा रही है। सदेह हो तो पहला पद्य पढ़िए। वहाँ नायिका के बालों से बूँदें टपक रही हैं और वह अपने प्रिय के साथ बाहर निकल रही है। परन्तु यहाँ बूँदें टपकती नहीं झलकती भर हैं। वहीं खड़ी जो है। हमारी धारणा ही नहीं दृढ़ विश्वास भी है कि हमारी बार वनितायें भी इस रूप में गोचर नहीं हो सकतीं,

किसी ललना की बात ही क्या ? जान पड़ता है कि देव जी भी अपने इस पद्य पर लज्जित हो चले थे अत उन्होंने अंत में 'सकुच' शब्द को रख ही तो दिया। पर इससे होता क्या है ? संकोच हृदय का भाव है, मन का दबाव नहीं। सचमुच घनाक्षरी और दोहे में बहुत अंतर है। देव जी की नायिका किसी दिव्यलोक की परी है तो बिहारी की भारतीय ललना।

देव तथा बिहारी के आचरण का अवलोकन एक प्रकार से हो गया। पर आज-कल हम लोगों की दृष्टि ग्रामों की ओर मुड़ पड़ी है। अत अब किसी गँवार नायिका का दर्शन करना चाहिए।

मिश्र जी का कथन है—'निर्धनी के नग्न निवास स्थान म भी देव जी सौंदर्य खोज निकालते थे। देव जी समदर्शी थे। सौंदर्य अन्वेषण में वे निर्धन कहार की भी उपेक्षा न कर सके। ठीक ही है। देव जी ने तो सौंदर्य खोजने का बीड़ा ही उठा लिया था। तभी तो 'नाइन', 'धाबिन' और 'चमारिन' आदि भी नायिका भेद में शामिल की गई ? अच्छा, अब आँख खोलकर देव जी की निर्धन कहारिन को देखिए—

जगमगे जोबन जगी है रँगमगी जोति,
                लाल लँहगा पै नीली ओढनी बहार की
झाऊ की झवरिया मैं सफरी फरफराति,
                बेचति फिरति बानी बोले मनुहार की।
चाहेऊ न चाहे चहूँ ओर ते गहन चाहैं
                गाहक उगाहैं राहैं रोकै सुविहार की
देखत ही मुख बिख लहरि सी आवै
                लाग्यो जहर-सी हाँसी करे कहर कहार की।

यदि जगमगे जोबन की रँगमगी जोति' से आँखें बची हों तो इस बात की ओर ध्यान दें कि यह कहारिन अपने नग्न निवास-स्थान में है अथवा किसी नगर में मछली बेंच रही है और देव जी की इस निर्धन कहारिन पर व जी तथा अन्य नागर लट्टू हो रहे हैं अथवा उससे छेड़छाड़ कर तरस खा हे हैं ? सच बात तो यह है कि देव जी की निर्धन कहारिन भी विष बोली और कहर ढहाती फिरती है। है न एक बला ? बिहारी भी तो एक रसिक

भीत थे। चट झोपड़ी की ओर मुड़ पड़े। आँखों ने जो कुछ देखा उसी को लिपिबद्ध कर दिया। आप को अधिकार है चाहे उनको बुरा समझें या भला। वे तो अपनी सी कर चुके। देखिए न—

देखत कछु कौतुक इतै, देखौ नेकु निहारि;
कब की इकटक डटि रही टटिया अँगुरिन फारि।

बिहारी ने गजब किया, लुटिया डुबो दी। मिश्र जी कहते हैं—

"बिहारी की ग्रामीण नायिका बड़ी ही बेढब जान पड़ती है। उसकी ढिठाई तो देखिए! अँगुलियों से टटिया फाड़ कर घूर रही है। देव जी के वर्णन में घोर ग्रामीण भी ऐसा कार्य करते न दिखलाई पड़ेगी।" हाँ, तो कैसा कार्य करते दिखलाई पड़ेगी? वही—"जहर सी हाँसी करे कहर कहार की।"

अब देव जी की इस 'स्वभावोक्ति' और निराली दुनिया को देखकर कौन कविता कर सकता है? 'जाति विलास' और 'अष्टयाम' इसी दिव्य दृष्टि के तो परिणाम हैं! सुना है, उनका निदर्शन मिश्र जी शीघ्र ही करने वाले हैं। हम भी उनका प्रकाशन देखना चाहते हैं।

दोनों कवियों के भाव तथा भाव-विधान का वर्णन करने के उपरांत उनके प्रभाव पर विचार करना व्यर्थ ही प्रतीत होता है। निदान निर्णय की बात उठने पर हम यही कहना ठीक समझते हैं कि यदि बिहारी द्रष्टा हैं तो देव भोक्ता। वैसे मिश्र जी की इच्छा। हाँ, बिहारी को निकट से जानना हो तो उनका यह दोहा पढ़ें—

कहे, दईहि जिनि धरे, जिनि तूँ लेहि उतार।
नीकैं है छीकैं छुवै, ऐसैंई रहि नारि॥

१३—राधा की तत्व-चिन्ता

अगस्त की 'सरस्वती' में पंडित वेंकटेश नारायण तिवारी जी ने 'समालोचक कौन देस के बासी' शीर्षक लेख लिखकर अपने समालोचकों को आडे हाथों लिया है। गोपियों का प्रभाव तिवारी जी पर इतना गहरा पड़ा कि आप भी उद्धव की भाँति उन्हीं के रंग में रँग गये और उन्हीं के मुँह से बोलने लगे। परंतु नकल नकल ही है, वह असल को नहीं पा सकती। तिवारी जी स्वत समालोचक हैं, और गोपियों का विलासिनी तथा राधा के प्रेम को भ्रष्ट मानते हैं। फिर भी अपने समीक्षकों पर प्रहार करने के लिए उन्हीं की शरण लेते हैं। तिवारी जी ने इस प्रकार गोपियों के मुँह से बोलकर सिद्ध कर दिया कि राधा के संबन्ध में लिखने का अधिकार उन्हीं को है, क्योंकि वे उन्हीं में से एक हैं, जो 'निर्गुन कौन देस को बासी' ? के आधार पर 'समालोचक कौन देस के बासी' का सृजन कर रहे हैं और खड़ी बोली-सी 'जिंदा' भाषा को तिलांजलि दे ब्रजभाषा सी 'मुर्दा' भाषा का अपने शीर्षक के लिए अपना रहे हैं। गोपियों के कहने का तात्पर्य तो समझ में आ जाता है, पर तिवारी जी के 'समालोचक कौन देस के बासी' का मर्म नहीं मिलता। कारण, आप भी तो अपने को समालोचक ही कहते हैं। फिर आप ही कहिए, आप 'कौन देस के बासी' हैं ! तिवारी जी के बुद्धिवैभव का पता तो इस शीर्षक से ही चल गया, किंतु उनकी उन थोथी बातों का निराकरण न हो सका, जो इस लेख में ठूँस दी गई हैं। तिवारी जी की तथ्यहीन बातों का खंडन करना व्यर्थ-सा प्रतीत होता है। किंतु उनकी एकदम उपेक्षा का परिणाम यह हो सकता है कि मूढ जनता उनके भुलावे में गुमराह हो जाय और किसी का टिप्पणी में सहसा विश्वास कर ले। हाँ, हमें विश्वास है कि अन्य महानुभाव उनकी उन बहुरंगी बातों का जवाब देंगे, जिनका संबंध उनसे है। अस्तु, हमें तो यहाँ इन बातों पर ही विचार करना है, जो हमारे संबंध में कही गई हैं।

जिन लोगों ने 'पंडित सोइ जो गाल बजावा'—नामक लेख का सरसरी

दृष्टि से भी देख लिया होगा और तिवारी जी के 'समालोचक कौन देस के बासी' को भी अच्छी तरह पढ लिया होगा, वे भलीभाँति समझ भी गए होंगे कि तिवारी जी ने प्रश्नों का उत्तर न दे वितंडा की शरण ली है।

हाँ तो निपुण तिवारी जी की व्यवस्था है—"इन उद्भट समालोचकों को पाठक भूल जायँ।" हमारा प्रश्न है—तो पाठक 'याद' किसे करें? तिवारी जी इसका उत्तर नहीं देते। परंतु इतना अवश्य कह जाते हैं कि पंडित रामचन्द्र शुक्ल तुलसीदास को साम्यवादी और लेनिन को बदमाशों का सरगना समझते हैं और फरमाते हैं कि मिश्रबंधुओं से एक बार भी भूलकर समालोचकों से भेंट नहीं हुई इसलिए मिश्रबंधु उसे पहिचान कैसे सकते हैं। शायद इन्हीं प्रमाणों के आधार पर आप उन्हें भूल जाने का आदेश देते हैं और अपने को सच्चे समालोचक के रूप में अंकित करना चाहते हैं। तो बस अब देखना यह है कि तिवारी जी ने शुक्ल जी को कहाँ तक समझा है और मिश्रबंधुओं को भूल जाने के लिए कहाँ तक स्वयं पैरवी भी की है।

शुक्ल जी का कथन है—

'ऊँची श्रेणियों के कर्तव्य की पुष्ट व्यवस्था न होने से योरप में नीची श्रेणियों में ईर्ष्या द्वेष अहंकार का प्राबल्य हुआ, जिससे लाभ उठाकर लेनिन' इस समय महात्मा बना हुआ है। समाज में ऐसी वृत्तियों पर स्थित 'माहात्म्य' का स्वीकार घोर अमंगल का सूचक है। मूर्ख जनता के इस माहात्म्य प्रदान पर न भूलना चाहिए यह बात गोस्वामी जी साफ साफ कहते हैं . ... अलरशक्तिवालों की अहंकार वृत्ति को नष्ट करने वाला साम्य' शब्द ही उत्कर्ष का विरोधी है। इस उत्कर्ष का विरोधी साम्य जहाँ हो उसे हमारे यहाँ लोग अंधेर नगरी कहते आए हैं।... गोस्वामी जी कट्टर मर्यादावादी थे।...मर्यादा का भंग वे लोक के लिए मंगलकारी नहीं समझते थे।"

तिवारी जी स्वीकार करते हैं कि 'पढ़ना एक बात है। पढ़े हुए को समझना दूसरी बात। इन दोनों ही से भिन्न बात है पढ़े और समझे हुए मसाले को मौके से इस्तेमाल करने की काबिलियत।" सो तिवारी जी ने पढ़ा तुलसीदास जी 'कट्टर मर्यादावादी' थे और उत्कर्ष के विरोधी साम्य को 'अंधेर नगरी' समझते थे, लेकिन उसका अर्थ समझ लिया कि तुलसीदास जी साम्य

वादी थे, और 'मौके से' काबिलियत के साथ' इस्तेमाल किया कि उद्भट समालोचक कहे जाने वाले पंडित रामचन्द्र जी शुक्ल इतना भी नहीं जानते कि तुलसीदास जी साम्यवादी नहीं थे। निदान वह पिछले समालोचक सिद्ध हुए। तिवारी जी के ही शब्दों में हमें उनसे यही कह देना है कि हम तो अपने पक्ष के समर्थन में केवल दलीलें ही दे सकते हैं; उनको समझने के लिए तिवारी जी का बुद्धि/तो नहीं दे सकता। इस प्रकार के 'बहमानों' का तो विधाता भी नहीं समझा सकते, जो गोस्वामी जी कट्टर मर्यादावादी थे अंधेर नगरी समझते थे' का अर्थ समझ ले कि तुलसीदास जी साम्यवादी थे और इसी बुद्धि के बल पर यहाने चले उद्भट समालोचकों की प्रतिभा का।

तिवारी जी ने यह निराली चाल चली है, किन्तु अपने कथन की पुष्टि में उन्हीं छिछले 'समालोचक' पंडित रामचन्द्र जी शुक्ल की शरण लेकर उन्होंने स्पष्ट कर दिया है कि सचमुच इस क्षेत्र में कितनी उनकी दयनीय दशा है। 'सरस्वती' के पाठक यह भली भाँति जानते हैं कि मिश्रबन्धुओं की आलोचना के प्रति हमारी कैसी धारणा है। हमने स्वयं लिखा था—

"रीतिकाल के कवियों, मुख्य कर देव जी को आचार्य मानकर जिन लोगों ने साहित्य-समीक्षा का बीड़ा उठाया था, उनकी पड़ताल हो चुकी। *हम यह नहीं कह सकते कि इस जाँच पड़ताल से हिंदी-साहित्य का कुछ भी* लाभ नहीं हुआ। खेद तो हमको यह देखकर होता है कि लोग अब भी अपनी उन्हीं पुरानी सम्मतियों को सच्ची आलोचना कहते फिरते हैं, और उनकी बातों का हिंदी के लिए संजीवनी शक्ति समझते हैं।"

यदि तिवारी जी लखनऊ जेल में साहित्यिक न बनते और 'सरस्वती' की प्रगति से परिचित रहते तो इन बातों के आधार पर हमें लपेट सकते थे। किंतु उनका यह साहित्यिक जीवन तो केवल आठ महीने का है; क्योंकि उनका स्वयं कहना है—

'पिछले आठ महीने से चुपचाप बैठा-बैठा हिंदी के अनेक गण्यमान्य समालोचकों की उछल-कूद का तमाशा देख रहा हूँ।... पिछले आठ महीनों मैंने आलोचना और आलोचकों पर अनेक निबन्ध पढ़े हैं, जो समय-समय पर पत्र और पत्रिकाओं में निकले हैं।"

पाठकों से हमारा अनुरोध है कि इस आठ महीने के शिशु समालोचक से अधिक आशा न करें और उसे यहीं छोड़कर तिवारी जी के परिपक्व ज्ञान का रस लें।

वृद्ध तिवारी जी की समझ अथवा ईमानदारी का नमूना देखिए। शुक्ल जी ने मिश्रबन्धुओं के विषय में लिखा था—

'हिंदी के पुराने कवियों को समालोचकों के लिए सामने लाकर मिश्रबन्धुओं ने बेशक बड़ा जरूरी काम किया। उनकी बातें समालोचना कही जा सकती हैं या नहीं, यह दूसरी बात है।''

तिवारी जी ठहरे राजनीति के पंडित। उन्होंने देखा, बेशक 'जरूरी काम' करने वाला व्यक्ति तो भुलाया नहीं जा सकता। फिर अपना पक्ष पुष्ट किस प्रकार किया जाय। उनकी प्रतिभा ने उनका साथ दिया और आप चट प्रथम वाक्य को हड़प कर गए। तिवारी जी ने इतना भी नहीं सोचा कि यदि शुक्ल जी मिश्रबन्धुओं को भुला देना चाहते तो उनका उल्लेख ही जगह-जगह पर क्यों करते। यही नहीं तिवारी जी की अक्ल में यह बात भी न आई कि शुक्ल जी के कहने का अर्थ यह नहीं है कि मिश्रबंधुओं और समालोचना से एक बार भी भेंट नहीं हुई, उनका अधिक-से-अधिक मतलब यही है कि उनकी बातों को प्रमाण कोटि में सहसा नहीं रक्खा जा सकता। अस्तु, तिवारी जी और शुक्ल जी के कथन में स्पष्ट अन्तर यह है कि तिवारी जी कृतघ्नता का प्रचार करना चाहते हैं और शुक्ल जी किसी तथ्य का निरूपण। मिश्रबंधुओं की समालोचना का सत्कार करना एक बात है, और उनकी सेवाओं का स्वीकार न करना दूसरी बात। हमें मिश्रबंधुओं का स्वागत पथप्रदर्शक के रूप में सदैव करना है। हम उनकी तथ्यहीन बातों का खंडन भी करेंगे और उनकी निःस्वार्थ साहित्य सेवा और पथ-प्रदर्शन का सम्मान भी। परन्तु इसी से यदि कोई प्रमादवश उन्हें भुला देने का फतवा दे तो यह उसकी भूल है।

तिवारी जी ने दर्प के साथ पूछा है—

''पांडेय जी मुझ पर रूठे हैं, परन्तु क्या उन्हें अपने गुरुवर श्री रामचन्द्र शुक्ल की मिश्रबंधुओं के विषय में निम्न सम्मतियों का भी पता है?''

जी नहीं भला मुझे उन सम्मतियों का पता कैसे होता ? न मैं जेल गया हूँ, न मैं देश विदेश घूमा हूँ न मुझे महापुरुषों के सत्संग का सौभाग्य प्राप्त है, न राजनीतिक क्षेत्र में मैं काम करता रहा हूँ और न मैंने कई पत्रों का सम्पादन ही किया है। मैं तो साधारण नियम का अपवाद हूँ। पर क्या आप कृपया बतलाने का कष्ट करेंगे कि का० कि० वि० विद्यालय के विद्यार्थी बड़े योग्य होते हैं, वे क्या आप के पढ़ाये होते हैं अथवा उन्हीं छिछले और बूढ़े 'बुद्धमती' समालोचकों या साहित्यिकों के ? तिवारी जी ! कुछ तो होश सँभाल कर बातें कीजिए ! आप मिश्रबन्धुओं की बातें जाने दीजिए। स्वयं देखिए आप में शब्द के प्रयोग तथा समझने की कितनी शक्ति है। आप लिखते हैं,—

आपने अपने श्र मुख से अनेक बातें लिखने की कृपा की है।'

आप ही कहें, आप अपने श्रीमुख से किस प्रकार और कितना लिखते हैं ? तिवारी जी की प्रतिभा का एक और तमाशा देखिए। आप का साभिमान आग्रह है—

' श्री किशोरीदास बाजपेयी को ऊँचा मानूँ या पांडेय जी को। यह फरमाते हैं कि राधा स्वकीया थीं यह फरमाते हैं कि राधा का परकीया रूप ही में लोग पूजते हैं। इन दो में बताइये कौन सच बोलता है। दोनों के कथन तो ठीक हो नहीं सकते।"

तिवारी जी न जाने क्यों इस प्रकार के कल्पित चक्कर में पड़ गए। उनके लिए तो मार्ग सीधा है। आपका फरमाना है--

पक्ष या विपक्ष में लिखने में बाजपेयी जी बहुत कुशल मालूम होते हैं। शास्त्री ही ठहरे। जिस मत को कहिए आज आप प्रतिपादित कर दें और यदि जरूरत पड़े तो कल उसी का खंडन भी कर डालें। विद्वान् हो तो ऐसा हो ! ऐसे ही मर्द समालोचकों द्वारा हिंदी का उपकार होगा—उनमें हिम्मत होनी चाहिए सत्य और सिद्धांत के पचड़े से उन्हें एकदम मुक्त भी होना चाहिए।'

बस महाराज ! बस ! आप इन्हीं बाजपेयी जी को ऊँचा मान लीजिए और अपने पाठकों को काष्ठकौशिक बनाकर अपना उल्लू सीधा कीजिए क्योंकि आप भी तो कामरूप ठहरे। आप में इतनी क्षमता कहाँ कि आप

स्वयं विचार कर सकें। आप को इस मसले से क्या बहस कि स्वकीया या परकीया क्या बला है। आप तो नायिका-भेद के पंडित नहीं हैं। फिर स्वकीया या परकीया का भूत आप पर सवार क्यों हो गया? जब इसी प्रकार ओट से इस प्रश्न को हल करना था, तब इतने पाखंड की आवश्यकता क्या थी?

तिवारी जी का मज़ाक तो देखिए। आप फरमाते हैं—'लेकिन इतना मैं अवश्य स्वीकार कर लूँगा कि आप ने अमरदों का विशेष रूप से अध्ययन किया है। अपनी अपनी रुचि। इस मसले से मुझे कोई दिलचस्पी कभी नहीं रही। अतएव पाँडे जी को इस विषय का आचार्य मानकर उनकी सम्मति को नतमस्तक होकर मैं स्वीकार करूँगा।

तिवारी जी ने अमरदों का कभी अध्ययन नहीं किया न सही। पर आप सफाई क्यों देने लगे? यदि आप की कभी इस मसले से दिलचस्पी नहीं रही तो, आप प्लेटो के पास कैसा चले गए। क्या कोई आप को फाँसी दे रहा था जो आप यह लिख बैठे—

'हमें यह न भूलना चाहिए कि जिस देश और युग में प्लेटो का जन्म हुआ, उसमें युवकों के रूपलावण्य को युवतियों के सौन्दर्य से अधिक महत्व दिया जाता था।' यही नहीं, आपने 'सरस्वती' में विज्ञापन भी छपवा दिया कि आप का रहस्यवाद या हिजड़ावाद 'फरवरी' में छपेगा। आप के कहने से तो यही प्रतीत होता है कि आप ने अपने ही रूप में वाजपेयी जी को अंकित किया है। आप घबरा क्यों रहे हैं? आप ने यदि अमरदों का अध्ययन नहीं किया तो न सही, पर उनके 'रूपलावण्य' और 'हिजड़ावाद' का तो आप को पूरा ज्ञान है! रही अध्ययन की बात, सो उसकी सिफारिश तो आप के 'पूज्यपाद डाक्टर भगवानदास' भी करते हैं और कामशास्त्र का उसे आवश्यक अंग भी बताते हैं। और आप ने भी तो राधा के प्रसंग में ही अमरदों की खबर ली और राधा रानी की स्वकीया और परकीया के रूप में आलोचना करने के उपरांत ही अपने 'रहस्यवाद या हिजड़ावाद' की सूचना दी। फिर आप क्यों नहीं मानते कि कभी आपको इस मामले से दिलचस्पी थी किंतु वह युवकों के 'रूपलावण्य' और 'हिजड़ावाद' ही तक रह गई—अमरदों के अध्ययन करने की क्षमता आप में नहीं रही।

तिवारी जी की ऊटपटाँग बातों का निदर्शन हो गया। अब उनके ज्ञान की बानगी लीजिए। राधा के संबंध में हमने लिखा था—

'हिन्दू-समाज ने कभी किसी कन्या को राधा होने का आशीर्वाद नहीं दिया (तिवारी जी की बात हम नहीं कहते) और न किसी आर्य ने राधा का गृहिणी के रूप में अंकित कर परकीया का आदर्श उपस्थित किया। राधा सर्वदा प्रेम के प्रतीक रूप में अंकित की गई हैं और उसी रूप में आज भी प्रतिष्ठित हैं।' तिवारी जी का उत्तर है—

'इन सब (विद्यापति, चंडीदास चैतन्य आदि) ने राधा को गृहिणी मान कर परकीया के रूप में पूजा।' हमारे कहने का स्पष्ट अर्थ यह है कि राधा का जहाँ कहीं वर्णन कृष्ण के प्रेम के साथ किया गया है वहाँ इस बात का विवरण नहीं दिया गया कि राधा कृष्ण की गृहस्थी किस प्रकार सँभालती थीं प्रत्युत इस बात का प्रकाशन किया गया है कि वह किस प्रकार कृष्ण के प्रेम में पागल तथा उन्मत्त थीं। समाज से राधा का कुछ भी संबंध नहीं था। इसका दृढ़ प्रमाण यह है कि कन्यादान अथवा विवाह के समय कन्या को कभी यह आशीर्वाद नहीं दिया जाता कि तुम राधा बनो। उसके सामने सीता और सावित्री का ही आदर्श उपस्थित किया जाता है कुछ राधा का नहीं। गृहिणी का प्रयोग जान बूझ कर इस लिए किया गया था कि इसमें प्रणय का सारा इतिहास भरा है। घरनी इसी गृहिणी का रूपांतर है जो मालकिन का द्योतक है। कहा गया है—

न गृहं गृहमित्याहुर्गृहिणी गृहमुच्यते।" अथवा 'भार्या गृहगृहस्थस्य' इन वचनों का तात्पर्य यह है कि गृहिणी घर का प्रबंध करती है, और इसी लिए गृहिणी कही जाती है। तिवारी जी को यदि सत्य से प्रेम है तो वह विद्यापति, चंडीदास, चैतन्य अथवा कहीं से भी खोज कर दिखा दें कि राधा कृष्ण के घर का किस प्रकार प्रबंध करती थीं अथवा जब वह रावण के यहाँ थी तब उसका घर किस प्रकार सँभालती थीं। समाज के सामने परकीया का आदर्श उपस्थित करना एक बात है और भक्ति-भावना या प्रेम की प्रेरणा से भक्तों का परकीया के प्रेम का आदर्श मान लेना उससे विपरीत अथवा भिन्न बात। इसी बात को सामने रखते हुए हमने लिखा था—'कुछ और चिंतन

करने से आपको स्पष्ट हो जाता कि यदि सीता की कल्पना पतिव्रत के लिए की गई तो राधा का प्रेमव्रत के लिए।" यही कारण है कि राधा कृष्ण की उपासना लोकपक्ष-शून्य है। तिवारी जीके पिछले समालोचक पंडित रामचन्द्र जी शुक्ल ने लिखा है—

"कृष्णोपासक भक्तों के सामने राधाकृष्ण की प्रेम लीला ही रक्खी गई, भगवान् की लोक धर्म-स्थापना का मनोहर चित्रण नहीं किया गया।" हमने भी लिख दिया था—"प्रेमी भक्तों ने एकांत प्रेम के लिए राधा का लोक पक्ष शून्य परकीया प्रेम चुना।" पर तिवारी जीने इन वाक्यों पर ध्यान नहीं दिया। हाँ, अपना मायाजाल फैलाते हुए लिखा अवश्य मारा—

"आप के मत में राधाकृष्ण सामान्य नायक-नायिका नहीं हैं, उनके भारभजन में उपयुक्त प्रश्न ही नहीं उठते। श्रीकृष्ण ने गीता में हमें दूसरा ही बात बताई है। फतवा देकर आप ने जिज्ञासा का गला घोट दिया।" बेचारे तिवारी जी को इस बात का पता ही नहीं कि लोकपक्ष का क्या अर्थ है और एकांत प्रेम किस चिड़िया का नाम है। तिवारी जी महाराज! क्या आप बता सकते हैं कि महाभारत से राधा का क्या संबंध है और गीता महाभारत का अंग है या नहीं? आपने तो बज़ात खुद कभी फरमाया था कि महाभारत से राधा का कुछ भी संबंध नहीं है, फिर गीता और कृष्ण की दुहाई क्यों? हमने तो लिखा था—"वास्तव में राधा कृष्ण के उपासकों की दृष्टि में राधा और कृष्ण सामान्य नायक-नायिका नहीं हैं" और आपने लिखदिया—"आप के मत में"। क्या यही आप का न्याय और सत्य प्रेम है?

पाठकों ने न जाने कितना बार सुना होगा "बारह बरस दिल्ली में रहकर भाड़ ही झोंका किये।" पर सौभाग्य से उनके सामने एक ऐसा ही समालोचक या संपादक आज मचल रहा है। तिवारी जी ने कई पत्रों का संपादन भी किया है, पर उन्हें इस बात का पता नहीं कि जो लेख जिस महीने की पत्रिका में छपता है, उसके लिए यह आवश्यक नहीं कि वह उसी महीने में लिखा भी गया हो। यदि इस कथन पर विश्वास न हो तो तिवारी जीके तर्क पर गौर कीजिए। आप सगर्व दलील देते हैं—

"यह जून की 'माधुरी' में प्रकाशित हुआ है, यद्यपि मैं मई की 'सरस्वती'

में यह वाक्य लिख चुका था...लेकिन पाँडे जीको झूठी शहादत पेश करने में न संकोच है और न लाज, यदि ऐसा करने से वे किसी को भी भरकर कोस सकें।" हम तिवारी जी की राधाओं के 'अंतर' पर बहस करना नहीं चाहते। हमें अभी उनसे केवल इतना जान लेना है कि आप के पास कौन-सा प्रमाण है, जिसके आधार पर आप सिद्ध कर सकते हैं कि हमने मई की 'सरस्वती' के प्रकाशन के अनंतर उक्त 'शहादत' गढ़ी है। पाठकों की जानकारी के लिए हम इतना कह देना उचित समझते हैं कि २१-३-३४ को 'पंडित सोइ जो गाल बजावा' नामक लेख के संबंध में माधुरी संपादक ने लिखा था कि अप्रैल में हमारा एक लेख छप रहा है, और उसे वे मई में छापेंगे। पर मई में प्रकाशित न कर उन्होंने उसे जून में प्रकाशित किया। कुछ भी हो, इतना तो स्पष्ट है कि तिवारी जी ने इस प्रकार धाँधली कर हमें विवश कर दिया है कि हम भाड़ झाँकने वाले मसले को उन पर चरितार्थ समझें। हमें आशा है तिवारी जी की झूठी शहादत को देखकर 'सरस्वती' के पाठक समझ जायँगे कि उनमें कितना संकोच और कितनी लज्जा है। एक बात और, तिवारी जी के कहने से जान पड़ता है कि राधा के स्वरूप पर विचार करने से उनकी धारणाओं में बराबर परिवर्तन होता रहा है। आशा ही नहीं दृढ़ विश्वास है कि यदि वह ध्यानपूर्वक हमारे लेखों को पढ़ेंगे तो बहुत कुछ प्रकाश में आ जायँगे और देखेंगे कि इस प्रकार उन्होंने अपनी किस बाल-बुद्धि और ढिठाई का परिचय दिया है।

अस्तु अब तो हमें देखना यह है कि क्या तिवारी जी वास्तव में स्वकीया और परकीया का भेद समझने में समर्थ हुए हैं या यों ही आज भी दून की ले रहे हैं। तिवारी जी का निष्कर्ष है—

"...इन शब्दों के सही अर्थ भी अभी तक नहीं मालूम।...आप सगर्व लिखते हैं कि एक स्वकीया दूसरे का परकीया हो सकती है। इस वाक्य को पढ़कर अचरज से मैं आँखें मलने लगा कि कहीं मुझे भ्रम तो नहीं हो रहा है। फिर देखा तो वही वाक्य ज्यों का त्यों मिला। एक की स्वकीया दूसरे की परकीया कैसे हो सकती है? इस गूढ़ वाक्य का समझना मैं मानता हूँ, मेरी क्षुद्र बुद्धि के परे है।" तिवारीजी महाराज! सचमुच बात भी यही है। आप

में अभी ऐसे गूढ़ वाक्यों के समझने की क्षमता नहीं है। यदि समझ में इस गूढ़ वाक्य का अर्थ न आया तो कुछ आश्चर्य नहीं। आप तो इतना भी नहीं समझ सके कि यदि इस वाक्य में कुछ दोष है तो वह वाक्यगत है, न कि शब्दगत। आपने किस बूते पर लिख दिया कि हमें स्वकीया का अर्थ नहीं आता। हमने स्पष्ट कर दिया था कि अपनी पत्नी को स्वकीया कहते हैं। आपको इसमें क्या आपत्ति है ? हमने यह भी लिख दिया था कि—

"प्रेम और प्रणय में जो विरोध है, पत्नी को 'पति' की ओर से विमुख करने की जो वासना है, उसी के विरोध से तो पातिव्रत की प्रतिष्ठा है।... स्वकीया और पतिव्रता का अर्थ एक ही नहीं होता। एक स्वकीया दूसरे की परकीया हो सकती है। पर पतिव्रता के लिए उक्त प्रश्न ही नहीं उठ सकता। स्वकीया का अत्यंत निर्मल शुद्ध, निखरा रूप पतिव्रता में प्रकट होता है।" इसका स्पष्ट अर्थ है कि विवाह हो जाने से ही नायिका स्वकीया हो जाती है, पर पतिव्रता वह तब कही जाती है, जब उसकी निष्ठा एकमात्र अपने पति में ही होती है। तिवारी जी को चाहिए कि पतिव्रता का लक्षण समझने के लिए 'घातक तुलसीदास' की शरण लें। एक की स्वकीया दूसरे की परकीया काम-वासना या प्रेम के प्रभाव से हो जाती है। यही नहीं, एक की परकीया भी दूसरे की स्वकीया विवाह के कारण हो जाती है। तिवारी जीने स्वतः लिखा है कि 'राधा' रायाण की पत्नी थी और बाद में उसका प्रेम कृष्ण से हो गया। इसी का साहित्यिक रूप है कि राधा 'रायाण' की स्वकीया थी, जो कृष्ण की परकीया हो गई। उपन्यास नाटक और कहानी की बातें जाने दीजिए, तिवारी जी ने उन्हीं आँखों से, जिन्हें वे मलने लगे थे, न जाने कितनी स्त्रियों को देखा होगा, जो पतिव्रता नहीं हैं और जार या उपपति से प्रेम करती हैं। मानव धर्म शास्त्र में इसका स्पष्ट वर्णन है कि इस प्रकार जो संतान उत्पन्न होती है, वह 'कुंड' के नाम से ख्यात होती है। कुल्लूक मनुस्मृति भट्टने (४,२१७) की टीका में लिखा है—

"गेहे ज्ञात भार्याजार ये सहन्ते तेषामन्न न भुञ्जीत।" अब तो आपकी समझ में यह बात आ गई होगी कि एक की स्वकीया दूसरे की परकीया हो सकती है, पर पतिव्रता कभी परकीया नहीं हो सकती। अब पाठक इस

पर स्वय निचार करें कि तिवारी जीका यह कथन—

जिस लेखक को 'स्वकीया' के लक्षण का सही बोध नहीं है वह यदि राधा-सबधी साहित्य के विवेचन की हिम्मत करे तो उसकी यह हरकत बेजा और नामुनासिब समझी जायगी। प तु धृष्टता ही जिस लेखक को निधि से एकमात्र विधि के रूप में मिली हो, उससे गमीर और उदात्त विचार शैली की आशा करना अपने को धोखा देना है" किस पर लागू हो रहा है और किसे विद्वानों की शरण लेनी है?

तिवारी जी शब्दों के प्रयोग में कितने दक्ष हैं और किस पटुता से तर्क वितर्क करते हैं इसकी भी जाँच हो जानी चाहिए। तिवारी जी ने दर्प के साथ लिखा था—

"परतु वहाँ (योरप में) तो मुसलमानी शासन मौजूद न था।" हमने इस भ्रम का निवारण करते हुए लिखा था कि योरप में मुसल्मानी शासन था। इसी प्रसग में तिवारी जी ने योरप के इतिहास का स्पष्ट करते हुए रोम, मिसर रूस फ्राम इँगलैंड और जर्मनी की शृ गारी कविता के उत्थान और विकास का नाम लिया था। हमारा आक्षेप था कि मिसर योरप में नहीं अफरीका में है। तिवारी जी ने न तो अपने भूलों को स्वीकार किया न हमारी वातों का खडन। उलटे अपनी अनभिज्ञता को छिपाने के लिए एक नई गली में हुरदग मचाना शुरू किया। आपने दावे के साथ लिख दिया—

"क्रूर शासन और स्वतत्र देशों की विभिन्न सस्कृतियों का पारस्परिक सपर्क दो भिन्न बातें हैं।" सचमुच आप तो एक अजीब बात कह रहे हैं! भला इतनी मोटी बात किसी की सूक्ष्म दृष्टि में आ सकती थी? महाराज हमने कहाँ कहा है कि दोनों एक ही बातें हैं। जरा दिमाग दुरुस्त कर लिखा कीजिए। दिसबर, सन् ३३ की 'सरस्वती' में 'मुसलमानी शासन का प्रसार और उसकी धर्म-सबधिनी नीति' की बात थी। पर अगस्त सन् ३४ की 'सरस्वती' में मुसल्मानी शासकों की क्रूरता और धर्मांधता की नौबत आ गई। खैर यही सही! हम तिवारी जीके आग्रह से यह माने लेते हैं कि सभी मुसलिम शासक क्रूर और धर्मांध थे 'दीन इलाही' और 'सत्यपीर' के प्रचारक अकबर और हुसेनशाह कहीं नहीं हुए। फिर भी तो तिवारी जी का मतलब

नहीं गँठता। तिवारी जी ने न तो 'मुखेड' पर ध्यान दिया और न पोपों के अत्याचारों पर। उन्होंने इस बात की भी उपेक्षा की कि योरप के उत्तरी तथा भारत के दक्षिणी भागों में धार्मिक आदोलनों के आचार्य अधिकतर क्यों उत्पन्न हुए। जो कुछ हो हमारा मुख्य विषय माधुर्य भाव या धर्म में शृंगारी योग है। तिवारी जी योरप के मध्यकालीन सतों को ध्यान से पढ़ें और देखें कि मसीह का दुल्हिनों के शृंगारी भाव का रग क्या है।

तिवारी जी की भलमनसी ता देखिए कि मिसर को योरप में मानते हैं और फिर भी योरप में मुसलमानी शासन नहीं मानते। इतने पर भी तुर्रा यह कि—

'रोम का इतिहास मुसलिम धर्म के उत्थान से हजार, डेढ़ हजार साल पूर्व से शुरू होता है और मिसर की सभ्यता कई हजार वर्ष पुरानी है। लेकिन स्कूली बहस मुबाहिसे में जिस तर्क-शैली का विद्यार्थी आश्रय लिया करते हैं उसी तक जिस लेखक की पहुँच है, उसको समझाना निरर्थक है।'' देखी, आपने तिवारी जीकी तिकड़म। प्रसग था शृंगारी कविता का तिवारी जी पहुँच गये 'इतिहास' और सभ्यता' के क्षेत्र में और ढिंढोरा पीटने लगे अपने पाहित्य का। पर सब कुछ व्यर्थ गया। 'माया मिली न राम'। 'उत्थान' शब्द के प्रयोग ने तिवारी जीका भडाफोड़ कर दिया। तिवारी जी 'उत्पत्ति' और 'उत्थान' के अर्थ से बिलकुल ही अनभिज्ञ जान पड़ते हैं। तिवारी जी से हमारा निवेदन है कि वह युक्तप्रात के प्रमुख नेता' के नाते ऐसी चौंचलीं न करें और 'सरस्वती' के श्रद्धालु पाठकों को टिप्पणियों के आधार पर मूढ न बनावें और कृपा कर यह भी स्पष्ट कर दें कि फ्रांस जर्मनी, इँगलैंड आदि देशों की सभ्यता इसलाम से कितनी पुरानी है क्योंकि रोम और मिसर के साथ ही आपने इनको भी घसीट लिया है।

तिवारी जी का फरमाना है—

"आप राधा को प्रेम की प्रतीक बार-बार कहते हैं मानो वह कोई मत्र है, जिसके उच्चारण मात्र से इस समस्या का समाधान हो जायगा। सूरसागर का सयोग शृंगार देखिए। विद्यापति और चडीदास को पढ़िए। ब्रह्मवैवर्त पुराण के राधाकृष्ण की विपरीत रति के वर्णन को ध्यान में लाइए। तब

बताइए कि धर्म में इस भ्रष्ट शृंगार का समावेश कहाँ से और कैसे हुआ। समाज की नैतिक दशा क्या रही होगी, जिसमें इस प्रकार का साहित्य भक्त साहित्य में गिना जाने लगा। नग्न अश्लीलता का इतना इतना समादर किन कारणों से होने लगा? इन प्रश्नों को समझने को पाँडे जीने जान बूझ कर चेष्टा नहीं की; क्योंकि वे उनकी शक्ति के परे हैं।" तिवारी जी को हमारी शक्ति की सीमा का पता मिल गया। यह अच्छा ही हुआ, नहीं तो बेचारे की नींद ही हराम हो जाती। तिवारी जी सच कहिए, आप ने राधा के प्रसंग में गोपियों और गाथा सतशती की उपेक्षा क्यों की? क्या गोपियाँ परकीया न थीं और गाथा-सतशती आपके अवतरित ग्रंथों से प्राचीन नहीं है? सान्याल महोदय ने गोपियों तथा गाथा सतशती का नाम लिया था हमने भी उस पर जोर दिया था, आपने भी विलासिनी नारियों की चर्चा की थी, पर न जाने क्यों आप उनको एक दम पी गए और केवल राधा का ले लिया। इतना ही नहीं, हमने स्पष्ट कहा था—

"यदि तिवारी जी को सहजानंद का रहस्य मालूम होता और सहजिया संप्रदाय का पता होता, कहीं से देख और सुनकर कुछ अंट-संट लिखने न बैठ जाते तो उन्हें स्पष्ट ज्ञात हो जाता कि सहजिया संप्रदाय अति प्राचीन है।... सहजिया सम्प्रदाय का मूल स्वरूप अति प्राचीन काल में सर्वत्र प्रचलित था।...कहने का तात्पर्य यह कि तिवारी जी उस सहजिया सम्प्रदाय के मूल-स्रोत से सर्वथा अपरिचित हैं, जिसके आधार पर राधा को सामाजिक क्रांति की मूर्ति सिद्ध करना चाहते हैं।" तिवारी जी ने इन बातों की अवहेलना क्यों की? और यदि अवहेलना हो हो गई तो किस आधारपर यह लिख दिया कि हमने उनके कथित कल्पित कारणों अथवा प्रश्नों के समझने की चेष्टा ही नहीं की? बात यह है कि तिवारी जी हठ के फेर में पड़ गए हैं और यह बात समझ ही नहीं सकते कि राधा का सामाजिक क्रांति से नहीं प्रत्युत भक्ति-भावना से संबंध है। तिवारी जी के इस पाखंड का मूल-कारण यह है कि उनमें इस बात का समझने की क्षमता नहीं है कि 'नग्न अश्लीलता' एवं 'भ्रष्ट शृंगार' ने धर्म की सनद हासिल की, कुछ धर्म ने भ्रष्ट शृंगार या नग्न अश्लीलता की मुहर नहीं। "तिवारी जी को चाहिये कि 'चिंतामणि' तथा

'स्पर्श' जय का परिचय प्राप्त करें, 'भैरवीचक्र' का रहस्य जानें, 'ब्रह्मयान' एवं 'मदनयान' के इतिहास पर ध्यान दें, शाक्तों के मत से अभिज्ञ हों; और फेर देखें कि सूर, विद्यापति, चंडीदास और ब्रह्मवैवर्त पुराण की विपरीत रति का अर्थ क्या है। यदि इतनी दूर तक उनकी पहुँच न हो तो 'राधा स्वामियों' से 'राधा आदि सुरति का नाम' का ही अर्थ पूछ देखें और तब कहें कि हम क्यों और किस नतीजे पर पहुँचते हैं।

'राधा प्रेम-प्रतीक है' यदि इस सूत्र को तिवारी जी समझ पाते तो इसी मन से उनका सारा भूत उतर जाता। तिवारी जी का इस बात का बोध हो जाना चाहिए था कि काम-वासना किस प्रकार प्रेम का रूप धारण कर लेती है और कोई वस्तु क्यों प्रतीक बन जाती है। राधा कृष्ण के प्रेम-प्रसार में जिस भाव का निदर्शन किया गया है, उसके इतिहास पर तिवारी जी का विशेष रूप से ध्यान देना है, और यह देख लेना है कि ऋग्वेद के समय में 'शेपाआरमित्र प्रथम' का ही राग नहीं अलापा जा रहा था, अपितु यहाँ शिश्नदेव के उपासक भी विद्यमान थे। उपनिषदों में 'उपस्थ' को आनंद का एकायन' ही नहीं माना गया है, प्रत्युत उनमें 'वामदेवव्रत' का विधान भी किया गया है और मैथुन को तो यज्ञ के रूप में अंकित भी कर दिया गया। कहने का तात्पर्य यह कि तिवारी जी जिन बातों को लेकर मचल रहे हैं, और जिनके आधार पर झूठी अश्लीलता का झंडा फहरा रहे हैं, उन पर बहुत कुछ विचार बहुत पहले हो चुका है। तिवारी जी स्त्री को आदिशक्ति का अवतार' मानते हैं, पर जानते इतना भी नहीं कि स्त्री के उपासक शाक्त ही भ्रष्ट शृंगार को, क्रियारूप में भी, धर्म समझते थे, और वास्तव में राधा भी उन्हीं शाक्तों की भावना की प्रतिमा हैं। संक्षेप में हम कहना चाहें तो कह सकते हैं कि राधा उसी भावना का भाव-पक्ष हैं, जिसकी चर्चा क्रिया रूप में शाक्त ग्रंथों में की गई है। प्रमाण के लिए इतना पर्याप्त है—

"ममाङ्गसम्भवा राधा त्रिपुरा त्रिपुरेश्वरी।"

काली अथवा शक्ति का यह कथन इस बात का प्रमाण है कि ब्रह्मवैवर्त पुराण में विपरीत रति का निरूपण किस दृष्टि को सामने रख कर किया गया

है। ज्ञानार्णव तंत्र के—

> "वसन्तसहित काम कदम्बवनमध्यमम्।
> मन्त्रेणानेन त कामं पूजयेत्सिद्धिहेतवे॥"

से शायद व्रजलीला पर भी कुछ प्रकाश पड़ जाता है। सारांश यह कि राधा पर विचार करने के लिए तंत्र साहित्य का अध्ययन अनिवार्य है। तंत्र से तात्पर्य व्रात्य (बौद्ध) और व्रह्म (हिन्दू) दोनों तंत्रों से है। अस्तु इस दृष्टि से विचार करने पर स्पष्ट मालूम हो जाता है कि वास्तव में मध्यकालीन हिंदी भक्त साहित्य में राधाकृष्ण की जो प्रेमलीला मिलती है वह बहुत कुछ 'भ्रष्ट शृंगार' और 'नग्न अश्लीलता का परिमार्जित अथवा भाव प्रधान रूप है, जिसको आचार्यों ने इस लिए स्वीकार कर लिया है कि उसका मनोभावों से गहरा संबंध ही नहीं था, बल्कि वह सूफियों के प्रेम का निष्फल करने वाला एक अमोघ अस्त्र भी था। निदान यदि इस राधाकृष्ण प्रेम का प्रचार न होता तो जनता आज बहुत कुछ अहिंदू होती। प्रसंगवश यहाँ इतना कह दिया गया, नहीं तो राधा पर एक स्वतंत्र निबंध की आवश्यकता है।

१४–सूफीमत की भावी प्रगति

सूफीमत की आधुनिक परिस्थिति उसके अनुकूल नहीं है; उसकी वर्तमान प्रगति को देखकर उसके भविष्य की चिंता स्वाभाविक है। हम देख रहे हैं कि इसलामी देशों में उसकी माँग नहीं है; गैर-इसलामी देश भी उसको नहीं चाहते। जहाँ कहीं दरवेशों की प्रतिष्ठा घनी है, जहाँ कहीं उनका आदर सत्कार हो रहा है, वहाँ शिक्षा एवं ज्ञान का अभाव है। विज्ञान के पूर्ण प्रकाश में उनमें फकीरों का सम्मान बना रहेगा इसकी कल्पना हम नहीं कर सकते। जब हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि आजकल की चहल-पहल भाव भजन के विपरीत है, आजकल के आन्दोलन देशप्रेम से ओत-प्रोत हैं, आजकल के अनुसंधान अल्लाह के विमुख हैं, आजकल के पंडित इल्हाम के प्रतिकूल हैं, आजकल के ज्ञानी हाल को मखौल समझते हैं—तब हमारी धारणा हो जाती है कि अब-तसव्वुफ की चिंता करना व्यर्थ है। परन्तु जब हम देखते हैं कि सूफीमत का अध्ययन खूब हो रहा है, लोग 'मिस्टिक' कहलाने के फेर में पड़ गए हैं, चारों ओर विश्वप्रेम का राग अलापा जा रहा है, लोभ और स्वार्थ की घोर निंदा की जा रही है—तब समझते हैं कि भविष्य सूफियों के साथ है। सूफीमत के इतिहास पर ध्यान देने ही यह व्यक्त हो जाता है कि उसके जीवन में न जाने कितने अवसर इतने निकट आये, कितने प्रसंग इतने भयंकर उपस्थित हुए, कितने आन्दोलन इतने भीषण छिड़े, कितने कांड इतने वीभत्स हुये कि उसके स्वरूप का सहसा लोप सा हो गया, किंतु उसके स्वभाव का प्रादुर्भाव बराबर होता ही रहा। जो लोग तसव्वुफ के मर्म से भली भाँति परिचित हैं, उसके स्वभाव का अच्छी तरह जानते हैं किसी हवा में बह नहीं जाते, रुककर विचार कर सकते और वर्तमान में भविष्य की झलक पाते हैं, उनकी दृष्टि में सूफियों का भविष्य अत्यन्त ही निर्मल है। सूफी हृदय के सच्चे सपूत हैं। मानव हृदय उनको छोड़ नहीं सकता, वह उचित परिधान देकर समय के शीत-घात से उनकी

रक्षा अवश्य करेगा। उनका अभ्यन्तर सदैव सरस रहेगा। बाह्य तो एक भुलावे की चीज है। सूफी कभी उसको विशेष महत्त्व नहीं देते।

सूफियों को इसलाम का सदा से भय रहा है और इसलाम को सदासे हेतुवादियों का। सूफी और मुसलिम के संयोग से इसलामी-साहित्य का सृजन हुआ। यदि सूफी न होते तो इसलाम में अध्यात्म-विद्या का प्रचार न होता। आज जो हम मुसलिम संस्कृति का नाम लेते हैं, उसका बहुत कुछ श्रेय उन्हीं सूफियों को है जिनके विरोध में बहुत दिनों से कट्टर मुसलमान लगे हैं। तुर्कों ने सूफियों की जो भर्त्सना की है उसका प्रधान कारण इसलाम नहीं, समय की गति है। इसलाम के विषय में उनका कहना है कि वह उस समय उन अरबों के लिए मंगल-प्रद था, जिनको मुहम्मद साहब उभार रहे थे। आज हमें उसकी आवश्यकता नहीं। हमको तो आज कमालपाशा के विधानों में इसलाम का स्वरूप मिलता है। सूफियों के प्रेम और उपासना की हम प्रशंसा नहीं कर सकते। हमें संसार में समर्थ हो कर रहना है। यहीं पर-स्वर्ग सुख भोगना है।

अब इसलाम के शुद्धरूप से किसी को संतोष नहीं हो सकता। जो संप्रदाय इसलाम की रक्षा के लिए चले हैं, उनमें तसव्वुफ का पूरा प्रयोग है। 'इजतिहाद' के संबंध में हमें स्मरण रखना चाहिए कि अब वह सुन्नी संघ में भी मान्य हो चला है। वास्तव में यह इजतिहाद सूफियों का प्रसाद है। सूफियों ने इलहाम की उद्भावना कर रसूल के लिये 'वही' का विधान कर दिया था। उनका आशय यह था कि अल्लाह से हृदय का सीधा संबन्ध है, इस लगाव की कभी इति नहीं होती। जब सफ्वी वंश अथवा सूफी संतानों को राष्ट्र के हित के लिए किंवा नवीन प्रश्नों के समाधान के लिए एक नवीन अमोघ अस्त्र की आवश्यकता पड़ी, तब उन्होंने चिंतन या व्यवस्था के क्षेत्र में 'इजतिहाद' की उसी प्रकार प्रतिष्ठा की, जिस प्रकार इसलाम की भजन के क्षेत्र में सूफी कर चुके थे। शीआमत के विवेचन से स्पष्ट होता है कि उसमें तसव्वुफ का मूर्त विधान है। तात्पर्य यह कि इसलाम की आधुनिक प्रगति तसव्वुफ के आधार पर हो रही है। सूफियों के केवल उस अंग का विरोध हो रहा है जो ग्रामी संकीर्णता के प्रतिकूल और विश्व प्रेम के अनुकूल

है। सूफियों के अपकर्ष का मूल मन्त्र वह स्वार्थ है, जिसके लिए संसार पागल हो उठा है और जिसकी आराधना में मुसलिम भी दत्तचित्त हो गये हैं। वहाबियों के क्रूर इसलाम से सूफियों का ह्रास नहीं हो सकता। काबे के विध्वंस को स्वयं मुसलमान ही नहीं सह सकते। रही कुरान और मुहम्मद साहब की बात, सो उनके सम्बन्ध में निवेदन है कि अब उनका काम समाप्त हो गया। अब स्वतंत्र चिंतन का युग है, किसी रसूल या 'वही' का नहीं। कुरान या रसूल की प्रतिष्ठा अब उस अनूठे अर्थ पर निर्भर है जिसकी व्यंजना सूफी आरम्भ से करते आ रहे हैं; अल्लाह के कोरे कलाम पर हरगिज नहीं।

इस महासमर के कारण मुसलिम शासकों में जो विचार कसरत से आ रहे हैं, वे अवश्य ही सूफियों के प्रतिकूल हैं। इसमें तो तनिक भी संदेह नहीं कि वर्तमान परिस्थिति में किसी मजहब का निर्वाह कठिन होता जा रहा है। लोग इसके पीछे मर रहे हैं। सूफियों ने मजहब को तिलांजलि दे जिस इश्क को चुना था, वह सामान्य इश्क के ऊपर इंसान को अलक्ष्य की ओर अग्रसर करता था। उसका आलम्बन अल्लाह या हक था। वह देश-काल से मुक्त, परम सत्य की झलक दिखा, खुदी को मिटा देने वाला इश्क था। आज भी पश्चिम की कृपा से इश्क का प्रचार हो रहा है। जो लोग इसलाम के परम हितैषी हैं, कुरान को सभी विद्याओं का आगार समझते हैं, इसलाम के विश्व-व्यापक राज्य का स्वप्न देखते हैं और जीवमात्र के उद्धार का एक मात्र साधन इसलाम को ही मानते हैं,—उनके सामने भी आज बहुमार का प्रश्न है; उनको भी इसलाम को प्रेम-प्रचारक सिद्ध करना है। अहमदिया संघ की ओर से जो कुरान की टीका बनी है, उसके अवलोकन से स्पष्ट हो जाता है कि कतिपय मुसलिम पंडित कुरान में क्या-क्या नहीं दिखाने की चेष्टा कर रहे हैं। यह तो एक साधारण बात है कि इसलाम में भाई-चारे का बहुत गहरा सम्बन्ध है। एक मुसलमान अपने को मुसलमान पहले समझता है, फिर किसी कारणवश अपने को कुछ और कहता है। तुर्कों के रक्षण के लिये भारत के कुछ मुसलमानों ने अपने जन्म-स्थान को इसलिए त्याग दिया कि उसका शासक किताबी होने पर भी इसलामी नहीं था। अफगानिस्तान में कुछ दिन निवास करने के अनन्तर उनका जोश

रहा पड़ा और तुर्की के विधानों की गैर इसलामी बाद तथा खिलाफत की अवहेलना से उनको वास्तविक परिस्थिति का पता चला। मुसलमानों में राष्ट्र भावना बढ़ी। भारत को छोड़ कर सभी अपने मुल्क के इश्क में मरने लगे।

देश प्रेम ने मानव दृष्टि को सकुचित कर दिया है। हम देश-प्रेम को, चाहें तो पश्चिम की शरारत कह सकते हैं। कम से कम सूफियों की दृष्टि में तो मुल्क परस्ती या हकपरस्ती के सामने कुछ महत्व नहीं। योरप के देश प्रेम का भीषण दुष्परिणाम सबको भोगना पड़ा और पड़ रहा है। मुसलिम अधिपति आज देश प्रेम के शिकार हो रहे हैं। चारों ओर संदेह संशय और आशंका का आतंक छा रहा है। लोग समझते हैं कि देश प्रेम सम्पूर्ण मानव जाति के विकास, मंगल तथा कल्याण में बाधा उत्पन्न करता है परंतु परस्पर में अविश्वास के कारण वे अपनी शक्ति के संग्रह में लगे हैं और बच्चों को देश प्रेम का पाठ पढ़ा रहे हैं। जो दूरदर्शी हैं जिन पर परमात्मा की कृपा है, जो संसार का श्रेय चाहते हैं और जिनका हृदय भेद भाव से मुक्त है व ही विश्व-प्रेम के सम्पादन में लगे हैं। देश प्रेम भी वास्तव में विश्व प्रेम का ही अंग है। स्वार्थ में अर्थ अनिष्ट नहीं है। सूफी अर्थ से अधिक 'स्व' की व्याख्या में लीन होते हैं उनके मत में 'स्व' का जितना ही विस्तार होगा, उतना ही उसका अर्थ भी व्यापक और कल्याणप्रद होगा। जो देश को 'स्व' समझता है, वह उसके लिए स्वशरीर की चिंता नहीं करता। वह अवसर आने पर कण कण को 'स्व' समझ सकता है। कारण उसके मानस में व्यष्टि का लोप और समष्टि का उदय हो गया है। अस्तु, कमशील सूफियों के विचार में देश प्रेम उसी प्रकार परम प्रेम का सोपान है जिस प्रकार व्यक्ति प्रेम अल्लाह के प्रेम का। सूफियों का सर्वप्रधान सिद्धांत है कि प्रेम से चित्त प्रांजल हो जाता है और उसमें द्वैत भाव नहीं रह जाता। व्यक्ति विशेष के प्रेम से देश प्रेम यदि अधिक मंगल प्रद न होता तो ...फी कदापि लोक-संग्रह में न लगते। सारांश यह कि देश प्रेम से तसव्वुफ ...भय नहीं, भय उसे उसके उस रूप से अवश्य है जो मानव विकास के ...एव अहंकार वश अन्य देशों का सर्वस्व अपहरण करता तथा भेद भा

का बीज बोता है। लोभ एवं लिप्सा के आधार पर जो देश-प्रेम का कीर्तन करते हैं, उनके प्रेम का स्वागत सूफी नहीं कर सकते। वह तो लोलुप आततायियों का काम है। सूफीमत उस प्रेम का प्रचारक है जिसमें त्याग हो, ध्वंस नहीं। सूफियों के देश-प्रेम में आत्मसमर्पण है जो परमात्मा की प्रेरणा से लोक मंगल के लिए प्राण-विसर्जन करने की अनुमति देता है, पर किसी का अधिकार नहीं छीनना चाहता। सूफी सदा से इसलाम के नाम पर मर मिटने वाले उपद्रवी जीवों को गैर मुसलिमधर्मों का महत्त्व समझाते रहे हैं। कोई कारण नहीं कि भविष्य में देश के अन्धे उपासकों को वे उन नेत्रों का दान नहीं देंगे, जिनकी ज्योति में भावी मंगल और सृष्टि मात्र का हित छिपा है। आज भी सर्वत्र ऐसी मंगल मूर्तियों का उदय हो रहा है, जिनके प्रकाश से स्वार्थांध व्यक्तियों का ह्रास और सच्चे स्वदेश-प्रेम का प्रसार प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है। सूफियों का तो कहना ही है कि प्रेम सदैव ऊपर को उठता है, चाहे उसका आलंबन कुछ भी क्यों न हो। हाँ, प्रेम हो, एषणा नहीं।

राष्ट्र-भावना के मूल में यदि लोक मंगल की कामना होती, भोग विलास की तीव्र तृष्णा न रहती, तो उससे तसव्वुफ को प्रोत्साहन मिलता। हमारी आँखों के सामने जो 'नग्न फकीर' देश सेवा में मग्न है, वही इस बात का पक्का प्रमाण है। योरप में जो मसीही मत प्रचलित था, उसकी दृष्टि में मसीह के अतिरिक्त किसी अन्य को 'पिता का पुत्र' होने का अधिकार न था। शामी जाति की संकीर्णता मसीहीमत में भी बनी ही रही। क्रुसेड के कारण उसको और भी प्रोत्साहन मिल गया। निवृत्ति प्रधान मसीह के उपदेशों में मनोरागों का पूरा प्रबंध न था। इसलाम के पतन के उपरांत योरप का व्यापार बढ़ा। पोप की प्रतिष्ठा भंग होने लगी। मसीही संघ में जो दोष आ गये थे उनके निवारण की इतनी उग्र चेष्टा की गयी कि उसमें अनेक दल हो गये। अन्य जातियों के संसर्ग में आ जाने से योरप में विज्ञान का उदय हुआ। विज्ञानियों का मसीही संघ ने इतना घोर विरोध किया कि उनको विवश हो कर उनसे अपना पिंड छुड़ा स्वतंत्र हो जाना पड़ा। विज्ञान से व्यापार में सहायता मिली और इंजील का भेद खुला।

लोगों का विश्वास उससे उठने लगा। निवृत्ति-प्रधान मसीही मत में भोग-विलास का सिक्का जमा। परमार्थ को स्वार्थ ने नष्ट कर दिया। योरप में विज्ञान के प्रचार से धर्म का ह्रास क्या पतन हुआ। आत्म-रक्षा तथा आत्म-विस्तार के लिए राष्ट्र भाव का प्रचार किया गया। योरप में असुर वृत्तियों का सत्कार बढ़ा। देखते ही देखते योरप विश्व का विधाता हो गया रूस ने धर्म की गवेषणा न की। उसको धोखे के धर्म से घृणा थी। उसने चटपट मजहब का गला घोंट दिया। उसकी उन्नति को देखकर अन्य राष्ट्र भी आगे बढ़े। तुर्की ने इसलाम को दूर से नमस्कार किया। मुसलमानों ने तसव्वुफ से घृणा की। उन्होंने सूफियों को इसलिए कोसा कि उनमें विश्व प्रेम का भाव है वे योग को भोग से अच्छा समझते हैं परन्तु वास्तव में किसी जाति के उद्धारक वहाँ के कर्मशील वीर संत ही होते हैं। टाल्स्टाय ही रूस का आदिम पथप्रदर्शक था जिसकी साधुता में किसी का सन्देह नहीं।

सच्ची राष्ट्रभावना में सूफियों का हित है। उससे उनका भय नहीं। भय तो उन्हें उस विज्ञान से है जिसमें प्रत्यक्ष का प्रतिपादन और परोक्ष का खंडन किया जाता है। यह तो निर्विवाद है कि विज्ञान के आधार पर उस अल्लाह का निरूपण नहीं किया जा सकता, जो किसी दिव्यधाम में अर्श कुर्सी पर विराजता है। सूफी बहुत पहले से उस अल्लाह से मुँह मोड़ चुके हैं। वे जिस सत्य की उपासना करते हैं उसका निरूपण नहीं हो सकता। विज्ञान उसका खंडन भी नहीं कर सकता विज्ञान जिसको व्यक्त करता है सूफी उसको उस परम अव्यक्त सत्य की अदा भर मानते हैं। अत उनका विज्ञान से विरोध नहीं हो सकता। हाँ उनकी उन बातों का महत्त्व अवश्य नष्ट हो जायगा जो अज्ञान के कारण उनमें प्रतिष्ठित हैं।

सूफियों को सब से बड़ा खतरा मनोविज्ञान से है। मनोविज्ञान ने भक्ति भावना का शीर्ण कर दिया है। मानस शास्त्र के पंडितों ने जो अनुसंधान किये हैं उनका देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि भक्ति में मादन भाव के लिए कम स्थान है। श्रीलूबा ने तो यहाँ तक कह दिया है कि उसमें रति भाव के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं होता। उसके मत में रति के भूखे प्राणियों ने मसीह अथवा मरियम की शरण इसी लिये ली कि

उनसे उनकी प्यास बुझे और काम-वासना को पक्की तृप्ति मिले। पुरुष मरियम और स्त्री मसीह को आलंबन बना रति-व्यायाम में मग्न हुए। प्रेमी सूफियों के आलंबन के विषय में तो हम जान ही चुके हैं कि वे 'अमरदपरस्त' होते हैं। अतः जब हम यूरप के मध्यकाल की परिस्थिति पर ध्यान देते हैं, तब हमें श्रीसूक्त का निष्कर्ष और भी साधु समझ पड़ता है। कारण कि मादन भाव के मूल में रति की तीव्र आकांक्षा ही काम करती है। रति के इस अलौकिक विधान का मुख्य कारण सहजानंद और धार्मिक भीरुता का संयोग ही है। इसलाम संभोग का पक्षपाती है। मुहम्मद साहब मसीह अथवा पाल की भाँति सन्यासी न थे। उनके मत में विवाह आधा स्वर्ग है। निदान, प्रेमी सूफियों का काम किसी के भी प्रेम से चल सकता है। उन्हें किसी दिव्य मसीह या मरियम की आवश्यकता नहीं पड़ती।

उधर यूरप स्त्री प्रधान देश है। वहाँ स्त्रियों की संख्या पुरुष से कहीं अधिक है। क्रुसेड का प्रभाव यूरप पर तगड़ा पड़ा। 'शिवालरी' की प्रतिष्ठा से स्त्री की महिमा बढ़ी। वह पतित से पूजनीय हो गई। शूरवीर, स्त्री और ईश्वर के एक साथ सेवक बने। धीरे-धीरे स्त्री को पश्चिमी सभ्यता में वह पद मिला जिस पर वह आज प्रतिष्ठित है। वह 'हौवा' की 'छाया' से 'मरियम' की मूर्ति बनी।

पश्चिम का प्रभाव इसलाम पर व्यापक रूप से पड़ रहा है। पहले इसलाम में स्त्रियों की मसीहियों से कहीं अधिक प्रतिष्ठा थी, पर आज यूरप में स्त्रियों को जो सम्मान प्राप्त है उसकी तुलना इसलाम नहीं कर सकता। हाँ, इसलाम भी धीरे-धीरे पश्चिम का स्वागत कर रहा है। तो इस आदर सत्कार का प्रभाव भी मादन-भाव पर अवश्यम्भावी है। इससे सूफियों की प्रेम पद्धति में परिवर्तन होना भी अनिवार्य है।

सूफी काव्य में प्रेम प्रतीक होता है। उसकी 'अमरदपरस्ती' का लक्ष्य यद्यपि हक है, तथापि उसके प्रेम-प्रदर्शन में किसी किशोर या किशोरी की उपेक्षा नहीं है। भविष्य में किसी सूफी प्रेमी का आलंबन किशोर होगा अथवा नहीं, यह कहना कठिन है। परंतु इतना अवश्य है कि परदे के बहिष्कार और स्त्री पुरुष के स्वच्छंद संपर्क से उसमें कमी अवश्य होगी।

जो लोग परंपरा का अनुसरण करेंगे, उनकी बात जाने दीजिए। सामान्यतः स्त्री-पुरुष के सहज संबंध में एक दूसरे का आलंबन होता है। पश्चिम में जहाँ भोग की मनचाही व्यवस्था हो रही है, वहीं इस बात पर भी जोर दिया जा रहा है कि स्त्री भोग की सामग्री नहीं है। स्त्री क्या है, इसके विवेचन की चिंता नहीं। आवश्यकता तो आज इस बात को जानने की है कि इस वातावरण में प्रेम की क्या गति होगी। मानस-शास्त्र के मर्मज्ञों का कहना है कि जब मिथुनीकरण वा मैथुन की उस वासना का, जो जीवन मात्र में स्वभाव से ही निवास करती है, किसी प्रकार का बंधन हो जाता है तब वह अपना रूप कुछ बदल लेती है, और और भी रम्य रूप में हमारे सामने आता है। मध्यकाल के मसीही संतों अथवा विरागी सूफियों ने जिस प्रकार उसको परम रम्य रूप दिया, उसको स्पष्ट करने का यहाँ आवश्यकता नहीं। आधुनिक काल में जो प्रेम-गीत गाये जा रहे हैं, उनका लक्ष्य भी वही दीदार या वस्ल है जिसके लिए सूफी सदा तरसते रहते हैं। खुले संभोग के प्रति एक प्रकार की अरुचि, घृणा अथवा जुगुप्सा का भाव बहुत दिनों से चला आ रहा है। आदम के पतन का कारण संभोग ही समझा गया था। मसीह तो वैरागी योगी थे ही, मुहम्मद भी उसका नियंत्रण कुछ न कुछ कर गये थे। पश्चिम की सभ्यता से जहाँ भोग-विलास को प्रोत्साहन मिला है, वहीं मसीह का कुछ विराग भी। स्त्री-पुरुष के पारस्परिक संबंध का नियमित करने में भी संतान की कामना बराबर बनी रहती है। संतान के अतिरिक्त अन्यथा समागम का पापकर्म समझने की आदत इंसान को पड़ चुकी है। और, संसार का आज संतान निरोध भी तो करना है! अस्तु सत्त्ववृत्ति के प्रधान प्राणियों के लिए परम प्रेम का आश्रय लेना अनिवार्य सा हो गया है। अतः हम कह सकते हैं कि भविष्य में लौकिक प्रेम को अलौकिक प्रेम का रूप देना अति सामान्य बात हो जायगी। उस प्रेम के प्रदर्शन में शायद नख शिख का विधान बिलकुल न होगा पर उसमें विभाव की अपेक्षा भावों का विस्तृत विवरण रहेगा। सूफी भावों की व्यंजना में कुछ अधिक संयत और और भी सरस होंगे। कारण, उनको सदा यह डर लगा रहेगा कि कहीं उनके प्रेम को लोग सांसारिक

न समझ लें। प्रेमी कवियों का यह दुराव अभी से परिलक्षित हो रहा है। मनोविज्ञान में प्रेम को वह अलौकिक रूप नहीं मिल सकता जिसका संकेत सूफी प्राय किया करते हैं। स्मरण रहे, किसी प्रणाली की सूक्ष्मता प्रेम के मूल को नहीं बदल सकती और सूफी तो प्रेम का अभ्यास इस लिए करते नहीं कि वह अलौकिक अथवा दिव्य है। उनके रति व्यायाम का रहस्य तो यह है कि उससे अहंभाव अथवा 'खुदी' का नाश हो जाता है और उनका स्वच्छ रूप निखर कर निर्मल बन जाता है।

हाँ, तो विज्ञान के प्रचार से लोगों की आस्था 'हाल' तथा 'इलहाम' से उठ चली है। प्रो० जेम्स ने संतों की अनुभूतियों का विश्लेषण कर जो निष्कर्ष निकाला, उससे साक्षात्कार अथवा दिव्य दर्शन का कुछ मदद तो मिली, परंतु प्रोलूबा की कृपा से वह फिर धुंधला हो गया। उसने प्रो० जेम्स के विचारों में आपत्ति की और उसके साथी भी अनेक निकल आए। उनका कहना है कि भक्ति भावना के विवेचन में मनोविज्ञान से बाहर जाकर अध्यात्म से सहायता लेना ठीक नहीं। पश्चिम के पंडितों में उक्त विषय में जो मतभेद है, उसके समीक्षण की आवश्यकता नहीं। उनके अवलोकन से तुरत अवगत हो जाता है कि अब पाखंड का समय नहीं, विवेक और विचार का युग है। फलत अब वही बात यथार्थ और सर्वग्राह्य होगी, जिसका प्रतिपादन बुद्धि निःसंकोच करेगी। निदान, अब बात-बात में हाल और इलहाम की शरण न लेकर बुद्धि और विवेक की गवाही ली जायगी। हाँ, दिव्य दर्शन की दिव्यता तभी मान्य होगी, जब द्रष्टा भी दिव्य हो। दिव्य-चक्षु की प्रतिष्ठा तभी स्थापित हो सकती है, जब ज्ञान चक्षु उसके विपरीत न हो। अनुभवगम्य भावों को तर्क सिद्ध नहीं कर सकता, न करे, अनुभूति तो उनकी सच्ची होनी चाहिए। सच्ची अनुभूति हम उसीको कह सकते हैं जो प्रज्ञा पर टिकी हो, किसी वासना की स्फूर्ति भर न हो। चित्त की चंचलता बनी रहे और सच्चिदानंद की अनुभूति भी हो जाय, खुदी न मिटे और खुदा भी मिल जाय—यह असंभव है, असंभव। यह कभी हो नहीं सकता। खुदा होने के लिए खुद का जानना लाजिम है। आत्मज्ञान प्रज्ञा का परिणाम है तो भविष्य का सच्चा सूफी भी आशिक नहीं, आरिफ होगा। वह

अनहद्‌क का द्रष्टा होगा किसी 'अमरद' का भोक्ता नहीं। विज्ञान से उसे भय नहीं होगा, वह विज्ञान का ज्ञाता होगा। वास्तव में उसकी अनुभूति उसके विज्ञान की जान होगी, जो उसके बिना प्रत्यक्ष न होगी। अनुभूति शांत चित्त की दीप्ति का नाम है, किसी वासना की भभक नहीं। निरत चिंता से उसकी उपलब्धि होती है नाचरग से नहीं।

विज्ञान के कारण हाल एवं इल्हाम की महत्ता चाहे जितनी नष्ट हो जाय, समा (सगीत) की महिमा कभी कम नहीं हो सकती। विज्ञानियों को भी मनोविनोद के लिये सगीत की आवश्यकता पड़ती है उसके विरोध में वे क्यों लगेंगे! जब मुहम्मद साहब के कट्टर अनुयायियों में सगीत का प्रवेश हो ही गया तब किसी अन्य समाज की बात ही क्या? सूफियों ने तो समा का सम्पादन ही किया है। उससे विमुख वे क्यों होने लगे? रही जनता की बात सो उसमें तो सगीत के लिए सहज भावना होती ही है। सगीत का प्राणिमात्र पर अक्षुण्ण अधिकार है। जीव जतु सभी उस पर मुग्ध हैं। इसलाम क तत्त्वदर्शी पडितों ने भी उसका प्रतिपादन किया है। किंदी, सीना फाराबी आदि अनेक मनीषियों की रचनाएँ ऐसी मिलती हैं जिनमें सगीत का विवेचन खुलकर किया गया है। सगीत में जो आनद मिलता है उसको सूफी ईश्वरपरक बना लेते हैं। जो लोग परमेश्वर को आनन्दघन समझते हैं उनको किसी भी आनद में उसी का साक्षात्कार होता है। जो लोग नास्तिक हैं, उनको भी समा में मजा मिलता है। समा का सम्बन्ध मनारागों से है, जो जीवमात्र पर अपना अधिकार बनाए रहते हैं। अतः भविष्य में भी उसकी प्रतिष्ठा बराबर बनी रहेगी। किसी दशा में उसका लोप नहीं हो सकता प्रत्युत प्रतिदिन उसका विकास ही होगा। सहृदय सगीत-प्रिय अवश्य होंगे। विज्ञान के शुष्क विश्लेषण से आक्रांत हृदय का सहारा सगीत ही तो है? उसी से तो उसकी तृष्णा शान्त होती है? उसी में तो उसे आनद मिलता है? तो फिर सूफी भी उसके सपादन में मग्न रहेंगे और कभी उनको इसलाम की कोई खरी चिन्ता न होगी।

१५—कामायनी का कवि

प्रान्तदर्शी प्रसाद की प्रतिभा को परख पाना इस हेतु कठिन हो गया है कि वस्तुतः हम उनके 'पौस्तक' ज्ञान को बहुत कुछ 'प्रातिभ' ज्ञान मान बैठे हैं और उनकी अनुमिति को पक्की अनुभूति समझते हैं। यही कारण है कि जब कभी प्रसाद को विवेक की भूमि पर खड़ा किया जाता है और उनकी आधार शिला को ज्ञान की टाँकी से देखा जाता है तब वह ठोस नहीं ठहरती और वह एक ही ठोकर में छितरा जाती है। कहते हैं कि प्रसाद जी ने 'कामायनी' में काव्य को उगा दिया है और ऐसा रहस्य दिखा दिया है कि बस पूछिए न, क्या कोई ऐसी रचना करेगा! ठीक है, परन्तु हमारा भी कुछ कहना है। आपकी दृष्टि में 'कामायनी' चाहे जो कुछ हो पर हमारी दृष्टि में तो वह भी कुमारसम्भव' की भाँति 'मानव' सम्भव ही है। 'मानव' से *वही कल्याण हुआ वा नहीं जो 'कुमार' से, इसे आप भी भलीभाँति* देख सकते हैं और यह भी बता सकते हैं कि प्रसाद जी की दृष्टि में शाश्वत आनन्द कहाँ है। किन्तु सच तो कहें कि इस 'सारस्वत नगर' की सुख शान्ति *के लिये प्रसाद जी की देन क्या है? महाकवि कालिदास ने कुमारसम्भव* का अथ 'अस्ति' से किया था और पर्वतराज हिमालय में 'हिम' का 'दोष' के रूप में देखा था। प्रसाद जी से और कुछ तो हुआ नहीं, हाँ इतना अवश्य उनसे हो गया कि उनकी नियति-रचना कामायनी का श्रीगणेश 'हिम' से हो गया। प्रान्तदर्शी 'अस्ति' की वाणी प्रान्तदर्शी 'हिम' की वर्षा बन गई। प्रसाद जी कहते हैं—

> "हिम गिरि के उत्तुङ्ग शिखर पर बैठ शिला की शीतल छाँह,
> एक पुरुष, भीगे नयनों से, देख रहा था प्रलय-प्रवाह।"

देखने में तो यह पद्य बहुत सुन्दर है। 'हिम' अलग 'गिरि' अलग। मानों इस अलगाव से ऊँचाई को और भी ऊँचा दिखाया गया है और *'हिम' तथा 'गिरि' दोनों को अलग-अलग महत्व दिया गया है।* और इसी से

प्रसाद के कवि ने 'प्रलय प्रवाह' न लिखकर 'प्रलय प्रवाह' लिख दिया है। ठीक है और ठीक है यह भी कि इसी से कवि ने 'बैठ शिला की शीतल छाँह' का व्यवहार किया है। कारण कि यह गहरी देख स्थिर रूप से शिला की शीतल छाँह' में ही हो सकती है कुछ इधर उधर की धूप में नहीं। कोई भी व्यक्ति इसी प्रकार गंगाजी की बाढ़ भी तो देखता है? सच सही और यह भी सही कि इसी 'प्रवाह' के प्रभाव से 'भीगे नयन' भी काव्य में उतर आये हैं। सच विधि तो बैठ गई और बज गई 'श्रद्धा' की दुंदुभी भी चारों ओर। किन्तु सच तो यह है यह सब कुछ आपने कहा है किस मुख से? 'श्रद्धा' या 'बुद्धि' के? यदि 'श्रद्धा' के मुँह से कहा है तो ऐसे श्रद्धालु बने रहें और यदि 'बुद्धि के मुख से सुना है तो कुछ हमारी भी सुन लें। हमारा भी इस विषय में कुछ कहना है।

स्मरण रहे कालिदास ने हिम को हिमालय' में दोष की दृष्टि से देखा है और अपने ढंग पर उसका समाधान भी कर दिया है और ऐसा सजीव समाधान कर दिया है कि वह सभी को रुच गया है। भला कौन ऐसा अभागा पंडित होगा जो जब तब उसका व्यवहार न करे।

एको हि दोषो गुण सन्निपाते निमज्जती दो किरणेष्विवाङ्क'

को आप किसी के भी मुख से सुन सकते हैं। पर यदि नहीं सुन सकते हैं तो इसका समाधान कि कवि कालिदास ने हिम को दोष क्यों कहा है। क्या हिमालय की शोभा हिम से नहीं होती? निवेदन है—होती है और खूब होती है। परन्तु ध्यान से देखिए तो पता चले कि प्रसंग सौभाग्य' का है कुछ किसी शोभा' का नहीं। ध्यान रहे हिम दृष्टि को शोभाकर है कुछ सृष्टि को नहीं। किन्तु प्रसाद जी करते क्या हैं? यही न कि इस हिम को अपना अयन बनाते हैं? वादी बोल उठेगा, हाँ। तभी तो हमारा कहना है कि प्रसादजी का कवि अशिव को शिव और असुन्दर को सुन्दर बनाता है। और यहाँ तक कि कामायनी' में किसी प्रकार का लिंग भेद ही नहीं रह जाता। सब सही और यह भी सही कि इसी अद्वयता को दिखाने के लिए प्रसादजी के कवि ने यह भी लिख दिया है—

'नीचे जल था; ऊपर हिम था, एक तरल था, एक सघन;
एक तत्व की ही प्रधानता कहो उसे जड़ या चेतन।"

किन्तु इस 'ऊपर हिम था' का अर्थ हुआ क्या ? किसके ऊपर ? 'हिम गिरि के उत्तुङ्ग शिखर' के ऊपर ही न ? क्योंकि उसी 'बैठ शिला की शीतल छाँह' का तो पद्य में विधान हुआ है ? तो क्या वह सघन हिम मेघ के रूप में आकाश में था ? और क्या यह कभी सम्भव भी है कि इस 'ऊपर हिम था' का अर्थ 'जल' अथवा 'प्रलय-प्रवाह' के ऊपर भी लगे। कठिनता की इति यहाँ नहीं होती। 'सघन' तो वह है ही, प्रसाद जी का कवि इतना और भी बताता है—

एक तत्व की ही प्रधानता'।

तो 'प्रधानता' का अर्थ क्या ? विकार, परिणाम अथवा विवर्त ? अथवा सब कुछ और कुछ भी नहीं ? कह सकते हैं—तत्व का अर्थ यहाँ है 'जल' तत्व। जल के अतिरिक्त यहाँ और कोई तत्व प्रधानता से विराजमान न था तो ठीक। परन्तु क्या यही प्रसाद का कवि भी कहता है ? सुनिए—

"दूर दूर तक विस्तृत था हिम स्तब्ध उसी के हृदय समान,
नीरवता सी शिला चरण से टकराता फिरता पवमान।"

कहिए तो सही 'हिम' का यह 'दूर दूर विस्तार' कहाँ था और कहाँ कौन टकराता था किससे ? कवि कहता है—

'उसी तपस्वी से लम्बे, थे देवदारु दो चार खड़े,
हुए हिम धवल, जैसे पत्थर बनकर ठिठुरे रहे अड़े।"

अरे ! यह 'अड़े देवदारु' यहाँ 'हिमठिठुरे' खड़े रहे ! उसी पुरुष के सामने अथवा 'प्रलय-प्रवाह' में ? हाँ हाँ 'बैठ शिला की शीतल छाँह' भी तो यहीं है ! अच्छा तो इस 'शीतल छाँह' का अर्थ क्या ? और सच तो कहें हिमगिरि के 'उत्तुङ्ग शिखर' पर देवदारु होता भी है ? सुनिए कोई हिन्दी का नाटककार इस विषय में क्या कहता है। वह स्पष्ट लिखता है—

"बहुत क्या कहें एक पर्वत के देखने मात्र से तीनों ऋतु आँख के सामने आ जाती हैं। एक पहाड़ को जड़ में से देखो तो गर्म देश के आम, इमली आदि पेड़ मौजूद हैं। बीच में से देखो तो सर्द देश के ताल, तराश, चील,

देवदारु आदि दिखाई देते हैं और बर्फ की हद के पास जाकर देखा तो भोज-पत्र के सिवाय कुछ भी नहीं दिखाई देता। (रणधीर और प्रेम मोहिनी• निवेदन, १८७७ ई०, पृ० ७८)

लाला श्रीनिवासदास की बात न रुचे तो कालिदास के कथन पर ध्यान दें और देखें कि वास्तव में वस्तु-स्थिति क्या है। कहते हैं—

"भूर्जेषु मर्मरीभूताः कीचकध्वनिहेतवः।
गङ्गाशीकरिणो मार्गे मरुतस्तं सिषेविरे ॥ ४-७३ ॥

वहाँ भोजपत्रों में मर्मर करता हुआ पहाड़ी बाँसों के छेदों में घुसकर बाँसुरी सी बजाता हुआ और गङ्गा जी की फुहारों से ठंढा हुआ वायु रघु की सेवा कर रहा था।"

यह तो रही 'भोजपत्र' की बात। अब 'देवदारु' की भी सुन लीजिए।

"तस्योत्सृष्टनिवासेषु कण्ठरज्जुक्षतत्वचः।
गजवर्ष्म किरातेभ्यः शशंसुर्देवदारवः ॥ ४-७६ ॥

जब रघु ने वहाँ से अपनी सेना का पड़ाव हटा लिया तब वहाँ देवदारु की ऊँची ऊँची शाखाओं पर हाथियों के गले की साँकलों से बनी हुई रेखाओं को देखकर ही जंगली किरातों ने रघु के हाथियों की ऊँचाई का अनुमान किया ॥ ४-७६ ॥"

कालिदास के रघुवंश के इस वर्णन के साथ कुमारसम्भव के प्रथम सर्ग के ९ और १४ श्लोक को देखें और यह मान लें कि *हिमगिरि के उत्तुङ्ग शिखर पर'* देवदारु नहीं होता और यदि ऊँचाई पर कोई वृक्ष होता भी है तो वह भोजपत्र का ही, देवदारु का नहीं। परन्तु प्रसाद जी का कवि यहीं नहीं रुका। उसने तो अपने प्रातिभ ज्ञान से यह भी लिख दिया —

'बँधी महा वट से नौका थी सूखे में अब पड़ी रही,
उतर चला था वह जल प्लावन, और निकलने लगी मही।"

पता नहीं किस हिमगिरि' के किस महा वट' में किस मनु' की कब 'नाव बँधी थी' कि प्रसादजी के कवि ने चढ़ाकर उसे 'हिम गिरि के उत्तुङ्ग शिखर पर' जमा दिया। जहाँ तक देखने में आता है किसी 'हिम गिरि के उत्तुङ्ग शिखर पर' कोई 'महावट' न होगा। कारण वह शीत देश का वृक्ष

नहीं, उष्ण देश का त्राता है। हाँ, इस 'महा-वट' में 'महा' का अर्थ कुछ और ही हो और यह किसी अपूर्व देश की बात हो तो उसकी हम नहीं कह सकते।

सम्भव है, आप सोचते हों कि 'उत्तुङ्ग शिखर' का अर्थ ऊँचा मात्र है, पर नहीं, स्वयं कामायनी का कवि कहता है—

"किन्तु उसी ने ला टकराया इस उत्तर-गिरि के शिर से,
देव-सृष्टि का ध्वंस अचानक श्वास लगा लेने फिर से।"

अब आप ही कहें इस 'शिर से' का संकेत 'क्या है। उत्तुङ्ग शिखर' ही अथवा कुछ और ?

'महा-वट' की बाधा सामने आई नहीं कि वादी बोल उठा—शतपथ में भी तो 'वृक्ष' का उल्लेख है और पुराण भी तो किसी प्रलय में किसी वट-वृक्ष का निर्देश करता है फिर 'प्रसाद' पर ही इतना प्रकोप कैसी ? प्रसाद तो आनन्दवादी ठहरे ! उन पर 'विवेक' की यह बौछार क्यों ? निवेदन है—भूल हुई। पर कृपया कहिए तो सही 'कामायनी' के इस कथन में क्या है ? आनन्द या विवेक ? श्रद्धा या बुद्धि ? सुनिए, प्रसाद का कवि कहता है—

"काला शासन-चक्र मृत्यु का कब तक चला न स्मरण रहा।
महा मत्स्य का एक चपेटा दीन पोत का 'मरण रहा।'
किन्तु उसी ने ला टकराया इस उत्तर गिरि के शिर से,
देव-सृष्टि का ध्वंस अचानक श्वास लगा लेने फिर से।"

कामायनी की इस कथा में चपेटा' का क्या महत्त्व है इसे सामने लाकर कुछ इस भाव पर भी ध्यान दीजिए। महाभारत का कहना है—

"हे महाराज ! उनके पश्चात् मनु ने उसके कहने के अनुसार सब जगत् की वस्तुमात्र के बीज इकट्ठा किये। फिर एक सुन्दर नाव में बैठकर घोर तरङ्गवाले समुद्र में तरने लगे। अनन्तर मनु ने उस मत्स्य का ध्यान किया। मनु के ध्यान करते ही वह मत्स्य एक सींग धारण करके मनु के पास पहुँचा...जब मनु ने उसके सींग में वह रस्सी बाँधी, तब वह वेग से उस नाव को समुद्र में खींचने लगा।......हे कुरुनन्दन ! इस प्रकार नाव को खींचते खींचते वह हिमाचल के सब से ऊँचे शिखर पर पहुँचा। वहाँ पहुँचकर उसने

कुछ हँसकर ऋषियों से कहा, आप लोग बहुत शीघ्र इस नाव को हिमालय के शिखर में बाँध दीजिए, विलम्ब करना उचित नहीं है।"

वनपर्व का यह अध्याय प्रसाद के कवि का आधार रहा है अथवा नहीं, इसे आप जानें। कहना तो यह है कि यहाँ 'मत्स्य' की यह लीला कुछ विचित्र सी लगती है और 'बुद्धि' की अपेक्षा 'श्रद्धा' पर ही अधिक अवलम्बित है। किन्तु प्रसाद जी का 'चपेट' कुछ और भी विलक्षण हो गया है। अवश्य ही उसमें 'नेता' नहीं 'नियति' का हाथ है। पर वह हाथ 'श्रद्धा' नहीं बुद्धि की ओर ही हाथ बढ़ाता है। कह सकते हैं—भारत की न कहो, शतपथ की कहो। अच्छा तो शतपथ को ही लें और देखें कि उसका पक्ष क्या है। वह कहता है—

की आवश्यकता पड़ेगी और यह शीतलता ही आनन्द की जननी बनेगी ? 'शिला की शीतल छाँह' और सो भी 'हिमगिरि के उत्तुङ्ग शिखर पर'? हाँ जी, विवेक का प्राण तो निकल ही गया, अब चाहे जिस श्रद्धा का पेट भरे !

'शिला की शीतल छाँह' में 'छाँह' और 'शीतल' दोनों ही भव्य हैं, दिव्य हैं और हैं सचमुच आनन्द के विधायक; परन्तु किसके लिए और कहाँ, कुछ इसका भी तो विचार होना चाहिए ! नहीं विचार बुद्धि का बालक है और उसके रहते आनन्द की प्राप्ति हो नहीं सकती। उसको दूर करो और फिर श्रद्धा के बहाने खुल खेलो। 'शिला की' कुछ न पूछो। इस 'शिला की छाँह' का अर्थ क्या होगा, इसे प्रकट रूप में अभिधा के आधार पर तो कोई कह नहीं सकता और न कोई चित्रकार इसे खींच ही सकता है। हाँ, श्रद्धा के सहारे और लक्षणा के आधार पर चाहे जो मैदान मारे और अपने विवेक की अरथी निकाले।

'देख रहा था प्रलय प्रवाह' में भी यही बात है। इस 'देख रहा था' से चित्त की किस वृत्ति का पता चलता है और सो भी किस रूप में ? स्मरण रहे, प्रसाद के कवि की नौका में मनु के अतिरिक्त कोई भी नहीं है और नहीं है किसी का कोई बीज भी। फिर भी उसकी 'कामायनी' की कृपा से सारी सृष्टि हो जाती है और स्वयं कामायनी भी श्रद्धा के रूप में न जाने कहाँ से और कब से 'गन्धर्वों के देश में ललित कला का ज्ञान' सीख रही थी और साथ ही कर रही थी 'घूमने का अभ्यास' भी। कोई कुछ भी कहता रहे हमारा विवेक और हमारा ज्ञान तो यही कहता है कि यह और कुछ नहीं, वास्तव में काशी में गंगाजी का बाढ़-दर्शन है और है यह वस्तुतः यहीं का 'घूमने का अभ्यास' तथा यहीं का 'गन्धर्वों का ललित कला का ज्ञान' भी। इसे अब यहाँ से उठाकर हिमालय के प्रदेश में पहुँचा देना सचमुच प्रसाद के कवि का ही काम है। नहीं तो कोई विवेकी कवि विवेक रहते ऐसा दिव्याचार कैसे कर सकता है और कैसे कर सकता है इतने पर भी ऐसा आनन्द का कोलाहल ? कलह तो हम इसे कह नहीं सकते। 'भीगे नयनों से' को क्या कहें; तो भी इतना तो कहना ही होगा कि यदि प्रसाद का कवि सचमुच कवि होता, कर्त्ता नहीं, तो

हैं। नहीं तो हम प्रसाद के कवि के इस उद्‌गार को सर्वथा साधु समझते और 'शीतल छाँह' की प्रशंसा भी जी खोलकर मन भर करते। 'कामायनी' में 'प्रज्ञाप्रसाद' कहाँ? वहाँ तो सिरे से बुद्धि का विरोध और 'श्रद्धा' का गुणगान है।

योग की प्रक्रिया से कामायनी का क्या सम्बन्ध है और किस प्रकार कामायनी प्रतिपादित करती है प्रत्यभिज्ञानवाद को, इसका प्रदर्शन तो 'प्रसाद का आनन्दवाद' में ही सम्यक् हो सकेगा तो भी संक्षेप में यहाँ इतना कह देना अलं होगा कि वस्तुत: कामायनी के अन्तिम दो सर्ग—रहस्य और आनन्द—इसी के द्योतक हैं। विचार करने की बात है कि कामायनी का आरम्भ 'हिमगिरि के उत्तुङ्ग शिखर' से क्यों होता और क्यों उसका पर्यवसान भी उसी 'मानस' पर होता है। 'समरस', 'संवेदन' स्पन्दन' 'प्रकाश' प्रभृति शब्दों के द्वारा प्रसाद जी ने जो रहस्य दिखाया है उसका रहस्य यही है कि प्रसाद जी का कवि कुछ काश्मीरी शैव सिद्धान्त से परिचित और प्रत्यभिज्ञानवाद से कुछ अभिज्ञ है अन्यथा उनकी झड़ी से कोई लाभ नहीं। जो हो, कहना तो हमें यहाँ यह है कि प्रसादजी के कवि ने कामायनी की रचना में जो रूप पकड़ा है वह 'आनन्द' का नहीं, 'विवेक' का है। हाँ, यह कहा और स्पष्ट कहा जा सकता है कि प्रसाद के कवि ने कामायनी में वह कर दिखाया है जो आज तक किसी से न हो सका और सम्भवत आगे भी नहीं हो सकेगा। किन्तु यह सकना है किस कोटि का? क्या हमें आनन्द' की प्राप्ति के लिए बोरियाबँधना बाँधकर कैलाश-यात्रा करनी चाहिए और वहाँ कामायनी-जैसी पोथी का अध्ययन कर उसका उपभोग न करना चाहिए। कोई कुछ भी कहता रहे पर विवेक तो डके की चोट पर प्रसाद के कवि से यही कहेगा—'मूल काटि तैं पल्लव सींचा"। आप कह सकते हैं कि जब पल्लव में आनन्द का वास है तब मूल को क्यों सींचा जाय? परन्तु आनन्द मुँह खोलकर कहेगा—बावरे! कुछ अपनी भी सुधि है? हम कहाँ नहीं हैं जो हमें हिमगिरि के उत्तुङ्ग शिखर पर ढूँढ़ रहे हो? आँख खोलो और देखो तो कहाँ नहीं समरस का विलास है। सृष्टि में समरस का साक्षात्कार तो तभी होगा जब दृष्टि में भी हो। अरे जब दृष्टि में पापी बसी है तब सृष्टि में समर-

रहता कहाँ ? भला कोई शब्दों को पकड़ कर रससिद्ध कवि बन सका है जो प्रसाद जी के कवि को आँखों उछाल रहे हो ? प्रसाद जी का कवि वस्तुतः कामायनी में रसध्वनि नहीं, और चाहे जो हो। उसमें जहाँ वाद नहीं वहाँ रस है पर जहाँ वाद है वहाँ वितंडा, जल्प भी नहीं। तो भी वह 'कामायनी' तो है ही। 'कुहुक' न सही, नियति की बात ठहरी। फिर किसी को खोट क्यों? सच तो यह है कि स्वयं 'प्रसाद' जी की वाणी में 'कामायनी' की स्थिति यह है—

> सब कहते हैं 'खोलो खोलो
>   छवि देखूँगा जीवन-धन का',
> आवरण स्वयं बनते जाते
>   है भीड़ लग रही दर्शन की।

१६—नागभाषा

संस्कृत के पंडितों की तो नहीं कहते, पर भाषाभिमानियों को 'नागभाषा' का पता लगाना होगा। बात यह है कि सन् १८७७ ईसवी के जून मास में प्रयाग की हिन्दी-वद्धिनी सभा के अधिवेशन में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने यह घोषणा की थी—

'यदि इसका विचार कीजिए कि यह देश भाषा (खड़ीबोली) कहाँ से आई है तो यह निश्चय होता है कि पश्चिम से आई है और पंजाबी ब्रज-भाषा इत्यादि भाषाओं से बिगड़कर बनी है। पर उनकी आदि किसी समय में नागभाषा रही हो तो आश्चर्य नहीं।' (हिन्दी भाषा खड्गविलास प्रेस, १८८३ ई०, पृष्ठ २०)

कहने को तो अत्यन्त सरल भाव से भारतेन्दु ने नागभाषा का उल्लेख कर दिया, पर जहाँ तक देखने में आया है, आज तक किसी भी भाषा-मनीषी ने उक्त नागभाषा का पता नहीं दिया और न खड़ी बोली की प्रकृति पर विचार करते समय उसका नाम ही लिया। कारण आलस्य के अतिरिक्त और कुछ समझ नहीं पड़ता, पर नहीं 'भूतभाषा' की भाँति नागभाषा की उलझन भी सामान्य नहीं है। उसे तो 'षड्भाषा' में स्थान मिल गया है। भिखारीदास कहते हैं—

> 'ब्रजभाषा भाषा रुचिर, कहै सुमति सब कोय।
> मिलै संस्कृत पारस्यौ पै अति प्रगट जु होय॥
> ब्रज मागधी मिलै अमर, नाग यवन भाखानि।
> सहज पारसी हू मिलै षट विधि कहत बखानि॥'
>
> (काव्यनिर्णय, भाषालक्षण)

भिखारीदास ने कृपा कर इतना तो बता दिया कि अब हमें किन-किन भाषाओं को ६ भाषाओं में गिनना चाहिए, पर कहीं उन्होंने यह बताने का कष्ट नहीं किया कि वास्तव में उक्त भाषाएँ हैं क्या। ब्रज, मागधी और

पारसी में तो कोई झगड़ा नहीं, उनका देश स्पष्ट है। किन्तु अमर, नाग एवं यवन के लिए क्या किया जाय! हाँ, देववाणी के संकेत पर 'अमर' को तो 'संस्कृत' का पर्याय ले सकते हैं और यवन को भी चाहें तो अरबी का द्योतक मान सकते हैं। सम्भव है, कुछ लोग उसे 'उर्दू' का वाचक समझते हों; कारण कि यह कहीं कहीं 'मुसलमानी' कही भी गई है और लल्लूजीलाल ने 'प्रेमसागर' की भूमिका में 'यामिनी'* का उल्लेख भी किया है; परन्तु तनिक ध्यान देने से स्पष्ट हो जाता है कि वस्तुतः उर्दू कोई स्वतन्त्र-भाषा नहीं, वह तो 'दास' के उपरान्त प्रभुत्व में आई और सरकार की कृपा से 'हिन्दुस्तानी' के नाम से चलनिकली। निदान मानना पड़ता है कि 'यवनभाषा' से तात्पर्य अरबी-फारसी से ही है। अब रही नागभाषा की बात, सो उसकी टोहमें सूदन का यह कथन लीजिए—

"साम यजुर रिग निगम अथर्वन धर्म पतंजल।
मीमांसा वेदांत न्याय साहित्य तर्क भल॥
विष्णु वायु शिव अग्नि गरुड़ नारद बलिरच्छक।
मच्छ कच्छ बाराह पद्म हरनच्छक तच्छक॥
पुनि स्कंद मारकंडे भविष ब्रह्मवर्त ब्रह्मंडवर।
भागवत मेघ मघु रघु कुँवर पुनि किरात नैषध अवर॥४७॥
छंद कोस व्याकर्न कर्म जोतिस निरुक्ति रस।
मंत्र जोग धनु ज्ञान वैद्य खोदय गनती जस॥
सामुद्रिक पुनि कोक सर्पबानी अरु भारथ।
नाटक भोसादेस यमनबानी ग्रन्थारथ॥
लखिकै अधर्म सु अनीत अति, सब विद्यनु चलनौ रहिय।
पुर इन्द्र छाड़ि ब्रजवास कौ ब्रजवासिनु के कर चढ़िय॥"४८॥
(सुजानचरित षष्ठ जंग, द्वितीय अंक, ना० प्र० सभा, काशी)

यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि सूदन ने इस लूट के माल में संस्कृत के तो ग्रन्थों का नाम दिया है, पर किसी अन्य भाषा के ग्रन्थ का उल्लेख

---

* 'यामिनी-भाषा छोड़, दिल्ली आगरे की खड़ी बोली में कह, नाम 'प्रेमसागर' धरा।"

नहीं किया है। हाँ, यदि नाम लिया है तो सर्पबानी, देशभाषा और यमन-बानी का। 'यमनबानी' का अर्थ अरबी फारसी के अतिरिक्त और हो ही क्या सकता है? उर्दू तो अभी जन्मी भर थी। हाँ, उसका जन्म सं० १८०० के लगभग कभी उर्दू-ऐ-मोअल्ला अथवा दिल्ली के लाल किला में हुआ। तब भला जाटों को लूट में उर्दू के ग्रन्थ कहाँ मिलते? रही देश-भाषा की बात, सो प्रकट ही है कि दिल्ली उस समय ब्रजभाषा की रचना से पटी पड़ी थी और सभी उसका सत्कार करते थे। अभी हातिम में इतना बल नहीं आया था कि उसे 'मौकूफ़' कर देते। स्मरण रहे यह घटना है—

> "गत पुरान सत बरष दस मधु रितु माधव मास।
> सूरज हित मनसूर कै गह्यो दिलो पै गास" ॥ २ ॥
>
> (वही, प्रथम अंक)

संवत् १८१० की और हातिम का 'दीवानजादा' है संवत् १८१२ का। तो भी यदि उर्दू की गणना 'यमनबानी' में कर ली जाय तो कोई आपत्ति नहीं, क्योंकि वस्तुतः उर्दू की गणना आगे चलकर यमनबानी में ही की गई है और वह सभी प्रकार से मानी भी गई है 'उर्दू'* अर्थात् मुगल दरबार (लाल किला) की भाषा। परन्तु अभी उसमें कोई ग्रन्थ कहाँ बना था जो लूट में हाथ लगता? निदान यमनबानी का अर्थ अरबी फारसी ही साधु है।

जो हो, हमें तो विचार करना है नागभाषा अथवा सर्पबानी पर, जो प्रत्यक्ष है कि वह न तो 'देशभाषा' है और न 'यमनबानी', कारण कि सूदन ने स्पष्ट ही इनका उल्लेख स्वतन्त्र रूप से अलग अलग कर दिया है। अतः उर्दू 'नागभाषा' वा 'सर्पबानी' हो नहीं सकती। किसी भी दृष्टि से देखें, वह देशभाषा अथवा यवन भाषा से दूर कहीं सर्पभाषा से मिल नहीं सकती। नहीं, सूदन की इस 'सर्पबानी' को संस्कृत भी नहीं मान सकते। कारण कि संस्कृत के भाँति भाँति के ग्रन्थों की तो पूरी तालिका सी दे दी गई है और ग्रन्थारम्भ में कवि ने लिखा भी है—

---

* देखिये 'उर्दू का रहस्य', प्रकाशक ना० प्र० सभा काशी। विशेषतः 'उर्दू का उद्गम' शीर्षक लेख।

"उसनाईस पचीस बहुरि वाल्मीकि व्यास मुनि।
पवनपूत विधिपूत एत सनकादि बहुरि गुनि॥
सकर अरु जयदेव दण्डि कजट मम्मट नर।
कैयट भार्गव विदित श्रीधरव कालिदास वर॥
वर गोपदेव श्रीहर्ष कहि, माघ महोदधि मानि चित।
सुर नर मुनि सुर शब्द कवि, प्रनति करतु सूदन सहित॥२॥'

अस्तु, इसी 'सुर शब्द' की पुस्तकों की तालिका लद के ग्रन्थों में प्राप्त है, कुछ किसी अन्य 'बानी' की नहीं।

सूदन की 'सर्वबानी' न तो 'सुरबानी है, न 'यमनबानी' और नहीं है 'नरबानी' अथवा देशभाषा। तो फिर वस्तुत वह है क्या? सूदन सहज भाव से कह जाते हैं 'सर्वबानी। आप भी उनके सुर में सुर मिलाकर कह सकते हैं कि वास्तव में दास' की 'नागभाषा' सूदन की 'सर्वबानी' ही है। हाँ, पर इससे सधा क्या? यह तो पहेली की पहेली ही बनी रही।

अच्छा तो इस प्रश्न पर अब कुछ दूसरी ओर से भी विचार करना चाहिए और देखना यह चाहिए कि इसका कुछ भेद मिलता है या नहीं। लीजिए 'तोहफतुलहिन्द' के लेखक मीरज़ा खाँ आपकी मदद के लिए तैयार हैं। फारसी में कहते हैं—

दोयम प्राकृत व मदद मोलूक व वज़रा व अकाबिर बेश्तर बदीं ज़बान गोयन्द व आँ ज़बान आलम सिफ्ली अस्त यानी आलम ज़ेर ज़मीन अस्त व आँरा पातालबानी गोयन्द व नागबानी नीज़ नामन्द यानी ज़बान अहल अस्फलुस्साफिलीन व मारान कि ज़मीनियान सिफलियानन्द व आँ मुरक्कब अस्त अज़ संस्कृत कि साबिक मज़कूर शुद व भाखा कि बाद अज़ ई मज़कूर शवद।'

(ए ग्रामर आव् दी ब्रजभाखा, स० ज़ियाउद्दीन, विश्वभारती बुकशाप, कलकत्ता, सन् १९३५ ई० पृ० ५३ ५४)।

मीरज़ा खाँ के कथन का सीधी भाषा में अर्थ यह है कि 'दूसरी भाषा प्राकृत है। इसका प्रयोग प्राय' राजा मन्त्री एव सामन्तों की प्रशंसा में होता है और यह पाताल लोक की वाणी है, जो इस लोक के नीचे है। लोग

इसको पातालवाणी और नागबाणी कहते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि यह उन नीच प्राणियों की भाषा है जो नीचे के लोक में रहते हैं। यह भाषा संस्कृत और भाषा के मेल से बनी है, संस्कृत का वर्णन तो पहले हो चुका है और भाषा का वर्णन इसके उपरान्त होगा।"

अस्तु, मीरजा खाँ के इस कथन से इतना तो स्पष्ट हो गया कि 'प्राकृत' का ही दूसरा नाम 'नागभाषा' है। यदि संस्कृत देवभाषा है और भाषा (व्रज) लोकभाषा' है तो प्राकृत पातालभाषा है। ठीक, परन्तु यहाँ एक और ही अड़चन उठ खड़ी होती और आँख दिखाकर घूरकर कहती है—कुछ पता है ! 'सूर्य प्रकाश' में क्या कहा गया है !

विजैरामोत कविया करणीदान का 'सूरज प्रकाश'* अभी अधूरा ही सामने है। परन्तु उसके आधार पर षड्भाषाओं का जो परिचय† दिया गया है उसमें विचित्र बात यह आ गई है कि नागभाषा के साथ ही साथ प्राकृत भाषा की भी स्वतन्त्र गणना की गई है। करणीदान की दृष्टि में 'षड्भाषा' में १ संस्कृत, २ नागभाषा, ३ अपभ्रंश, ४ मागधी, ५ शौरसेनी और ६ प्राकृत की गणना है। इनमें से संस्कृत, अपभ्रंश, मागधी तथा शौरसेनी के विषय में तो कुछ कहना ही नहीं है। उनका संकेत बहुत कुछ स्पष्ट है। रही 'नागभाषा' और 'प्राकृत' की चर्चा। सो इस प्रसंग में जान लेने की बात यह है कि कविया करणीदान प्राकृत के भीतर व्रज, मारवाड़ी, पंजाबी, मराठी, सोरठी और सिन्धी आदि की गणना करते हैं, जिसका आशय यह निकला कि 'सूरज-प्रकास' में 'प्राकृत' का अर्थ है प्राकृतजन की देशभाषा। कविया करणीदान ने 'प्राकृत' का अर्थ लिया है प्रचलित बोलचाल वा व्यवहार की भाषा, इसी से उन्होंने उक्त प्राकृत का कोई प्रमाण नहीं दिया है। प्राकृत' का यह

* सूरजप्रकाश का कुछ अंश ए० सु० बंगाल से प्रकाशित हुआ है जिसका सम्पादन जोधपुर के पंडित रामकरण विद्यारत्न ने किया है। इसमें मूल के अतिरिक्त भूमिकादि कुछ भी नहीं है। ग्रन्थ का रचनाकाल सम्भवत: सन् १७३० के लगभग है।

† देखिए 'सेलेक्शंस फ्राम हिन्दी लिटरेचर' बुक १ लाला सीताराम-कृत, कलकत्ता यूनिवर्सिटी, पृष्ठ ५६। सन् १९२१ ई०।

संकेत निकाला नहीं कहा जा सकता, हाँ रूढ़ नहीं है, अपितु अपने मौलिक अर्थ में है। अस्तु इस 'प्राकृत' का नागभाषा कि या रूढ़ 'प्राकृत' से कोई विरोध नहीं। सच पूछिए तो कविया करणीदान ने संस्कृत नागभाषा और अपभ्रंश में संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश के क्रम को ही निभाया है और प्राकृत का प्रयोग देशभाषा के लिए ही कर दिया है। अत उनके प्राकृत प्रयोग में कोई विशेष बाधा नहीं है।

किन्तु प्राकृत को नागभाषा का सर्वत्र पर्याय ही माना गया हो यह बात भी नहीं है। अभी उस दिन कम्पनी सरकार की ओर से पूर्वी भारत का जो विवरण लिया गया था उसमें नागभाषा को प्राकृत से कुछ अलग कर दिखाया गया है। एम० मार्टिन की 'ईस्टर्न इंडिया' की दूसरी जिल्द में पृष्ठ ४३० में इस सम्बन्ध में जो लिखा गया है उसका भाव यह है कि प्राकृत लंका के रावण की भाषा थी तो सर्पभाषा पाताललोक की भाषा। इसके आगे जो बात कही गई है *यह और भी विचारणीय है। उक्त साहब को इसी सर्पभाषा में एक पिंगल* की पोथी भी मिली, जिसमें छन्द शास्त्र का विचार था और जिस पर देव भाषा संस्कृत में टीका लिखी हुई थी। इस सर्पभाषा के सम्बन्ध में यह भी अनुमान लगाया है कि यह संस्कृत की एक कसाना प्रयुत शैली है। जो हो, इस प्रसंग से इतना तो स्पष्ट ही है कि यह *सर्पभाषा पिंगल की भाषा है और कविता* के लिए पढ़ी भी जाती थी।

उधर कहा जाता है कि

"छन्दशास्त्रस्य प्रथम प्रणेता पिङ्गलाचार्यः । स पिंगलनाग पिङ्गलमुनि रिति नामद्वयेनापि प्रसिद्ध । पतञ्जलेर्नामान्तर पिङ्गलाचार्य इत्यपि जनश्रुतिः। तत्र प्राकृतछन्दोग्रन्थे मङ्गलाचरणश्लोके पिङ्गलनागेतिनाम गृहीतं यथा—

जो विविहमत्तसाअरपार पत्तो विविहमइ देल ।
पढम भासतरण्डो णाओ सो पिङ्गलो जअइ ॥

प्राकृतभाषारम्भणोकाकारो च पिङ्गलनाग विषमभाषान्धादयुदरस छन्द शास्त्रस्य प्रथम शिक्षिमिलमस्या हेतवेत पारम्यास, स कवतीमूर्ख अत प्रम्मतच्छन्दपादानांच्छन्द शास्त्रस्य प्रथमप्रणेता पिङ्गलनाग एव बभूवेति लभ्यते। (छन्दसूत्रम्, ए० मु० घृ्तल, सन् १८७४ ई०, भूमिका पृष्ठ १)

श्री विश्वनाथ शास्त्री ने पिंगलनाग के बारे में जो कुछ कहा है उसको ध्यान में रखकर कविया करणीदान के इस मत पर विचार कीजिये कि नागभाषा के प्रमाण नागपिंगल वा पिंगल नाग हैं। सच तो यह है कि पिंगलाचार्य का नाम प्राकृत एवं छन्दःशास्त्र से कुछ ऐसा जुट गया है कि उनको अलग-अलग, बिलगाकर देखना अत्यन्त कठिन है। निदान, पिंगल नाग के कारण यदि प्राकृत भाषा को नागभाषा कह दिया गया तो कोई आश्चर्य नहीं। रही लंका और रावण की बात। सो रावण वा लंकेश का प्राकृत से कुछ सम्बन्ध माना ही जाता है। प्राकृत का यह प्रसंग इतना महत्त्वपूर्ण है कि वह यहाँ सरलता से नहीं उठाया जा सकता, फिर भी संकेत के रूप में इतना कहा जा सकता है कि लंका पालि का घर-सा रहा है और प्राकृतों का उदय पालि के उपरान्त ही माना जाता है। प्राकृतों के विकास में नाग-शासन का कितना हाथ रहा है यह भी एक स्वतन्त्र विचारणीय विषय है। तो भी, अभी इतना तो कहा ही जा सकता है कि वस्तुतः नागभाषा प्राकृत का पर्याय है और प्राकृत के लिए ही यत्र तत्र उसका प्रयोग हुआ है, और यदि कहना ही चाहें तो यत्र तत्र क्या सर्वत्र भी कह सकते हैं। सर्वत्र कहने में जो बाधा उपस्थित होती है वह तभी तक बनी रहती है जब तक हम नाग भाषा को प्राकृत का ठीक पर्याय मानते रहते हैं, किन्तु जहाँ हमने उसको प्राकृत का एक भेद कहा वहीं सारी बाधा दूर हो गई और प्राकृत तथा नागभाषा का विरोध जाता रहा।

फिरंगियों ने जो हिन्दुस्तानी कोष रचे हैं उनमें से कुछ में तो नागभाषा का उल्लेख पाया जाता है पर आधुनिक कोषों में उसका अभाव सा है। फोर्बस और फैलन के हिन्दुस्तानी कोषों में नागभाषा को एक प्रकार की प्राकृत ही लिखा गया है, जिससे सिद्ध होता है कि भारतेन्दु काल तक नागभाषा का प्रयोग चालू था और इसी से भारतेन्दु ने प्राकृत के स्थान पर उसका प्रयोग किया भी है। भारतेन्दु व्रजभाषा और पंजाबी की प्रकृति नागभाषा मानना ठीक समझते हैं। अब प्रश्न उठता है कि अपभ्रंश की स्थिति क्या होगी। इसके उत्तर में अभी इतना ही कहा जा सकता है कि नमि साधु के समय में 'प्राकृतमेवापभ्रंशः'* की घोषणा हो चुकी थी और धीरे धीरे

*इसके लिए देखिए 'भाषा का प्रश्न' पृष्ठ ४०, ना० प्र० सभा काशी से प्रकाशित।

संस्कृत-प्राकृत के साथ 'भाषा' अथवा देशभाषा की गणना हो चली थी। फलतः हम देखते हैं कि पृथ्वीचन्द्रचरित्र† में संस्कृत तथा प्राकृत का तो ७२ कलाओं में उल्लेख है, पर अपभ्रंश का कहीं नहीं। और यदि किसी अन्य भाषा का है भी तो वह 'देशभाषा' का ही है। इधर गोस्वामी तुलसीदास भी 'मानस' में 'जे प्राकृत कवि परम सयाने' के साथ 'भाषा जे हरि-चरित बखाने' की ही तुक मिलाते हैं, कुछ अपभ्रंश की नहीं। तो क्या देशभाषाओं के विकास-काल में अपभ्रंश की कोई स्वतंत्र सत्ता ही नहीं रह गई थी और उसकी गणना भी 'प्राकृत' के भीतर ही हो गई थी? नमि साधु का उत्तर स्पष्ट 'हाँ' नहीं है। कारण कि उन्होंने ही तो स्पष्ट लिखा है—

"तस्य च लक्षणं लोकादेव सम्यगवसेयम्।"

अब यदि यही बात है तो अपभ्रंश को देशभाषा के साथ क्यों न लें और क्यों न कीर्तिलता के

> "सक्कय बाणी बहुअ न भावइ,
> पाउँअ रस को मम्म न पावइ।
> देसिल बअना सब जन मिट्ठा,
> तँ तैसन जम्पओ अवहट्टा॥"

पर खुलकर विचार करें?

अच्छा कुछ भी हो, पर इतना तो प्रकट ही हो गया कि वास्तव में 'प्राकृत' को ही नागभाषा कहते हैं, संस्कृत वा देशभाषा (अपभ्रंश?) को नहीं। अब यह पंडितों का काम रहा कि वे इस तथ्य की शोध में रहें कि प्राकृत के लिए नागभाषा का व्यवहार कब और क्यों हुआ। 'नाग' को 'सुर'-'नर' का साथी समझकर तीनों लोकों का लेखा लगा लेना एक बात है और नाग का रहस्य खोलना उससे सर्वथा भिन्न दूसरी बात। 'नागरी' के अभिमानियों को अब नागभाषा की कुंडली पर ध्यान देना होगा अन्यथा उसका इतिहास अधूरा रह जायगा। हाँ, अधूरा ही।

---

† देखिए 'प्राचीन गुर्जरकाव्यसंग्रह' पृष्ठ ९९; गा० ओ० सेरीज़ (नं० १३) में प्रकाशित।

१७–देशी सिक्कों पर नागरी

देशमें जब राजभाषा और राजलिपि का प्रश्न छिड़ गया है तब यह भी देख लेना अनिवार्य हो गया है कि देशी नरेशों ने नागरी के प्रति अपने सिक्कों पर क्या व्यवहार किया है। सो प्रथम ही यह कह देना उचित प्रतीत होता है कि वास्तवमें यह इस जनका विषय नहीं और न इस समय इतना अवकाश ही है कि इसका पूरा-पूरा अध्ययन कर इसकी मीमांसामें लगे। परन्तु जब दिखाई यह देता है कि किसी जानकार का ध्यान ही इधर नहीं जाता तब थोड़ा अपनी ओरसे ही इस विषयमें लिख देना कोई पाप नहीं। निदान बताया जाता है कि देशी नरेशों ने अब तक अपने सिक्कों पर जो नागरी को स्थान दिया है वह कुछ कम महत्त्वका नहीं। क्या हिन्दू, क्या मुसलमान, क्या गोंड़, क्या द्रविड़ सभी राज्योंमें नागरीको कुछ न कुछ, कहीं न कहीं स्थान अवश्य मिला है। हमारे पास पूरी सामग्री नहीं। फिर भी जो प्रस्तुत है उसके आधार पर यह जताया जाता है कि मैसूर के द्रविड़ राज्य से लेकर जावारा के मुसलमानी राज्य तक नागरीका व्यवहार पाया जाता है। सर्व प्रथम मैसूर राज्यको ही ले लीजिए क्योंकि यही हमारा प्रमुख देशी राज्य है। कश्मीर का विस्तार अधिक है, पर धनजन उतना नहीं जितना मैसूर का। रहा हैदराबाद का उसमानी राज्य, सो उसका देशी राज्य मानना ही भूल है। उसके शासक कभी अपने आपको हिन्दुस्तानी नहीं कह सकते। निदान कहना पड़ता है कि मैसूरके देशी राज्यमें नागरीको स्थान मिला है। हैदरअली और टीपू सुलतान के कट्टर शासनके पहले के सिक्कोंपर नागरी को जो स्थान मिला उसकी चर्चा व्यर्थ सी जान पड़ती है अतएव संक्षेपमें बताया यह जाता है कि मुसलमानी पंजे से मुक्त होने और कुछ कुछ स्वतंत्रता की सांस लेने पर मैसूरके श्रीकृष्ण राज (सन् १७९९–१८६८) ने अपने सिक्के पर नागरी को स्थान दिया और अपना नाम इसीमें अंकित कराया, ऐसा क्यों किया, इसका एकमात्र कारण यही प्रतीत होता है कि उनकी दृष्टि

"हाँ" जयपुर को अवश्य ही समय के साथ चलना था, और अपनी मुगली आन को छोड़ कर कुछ प्रजा की कानि पर भी ध्यान देना था। हो सकता है, उसका 'मिरजा' और 'सवाई' का अभिमान हो, और वही उसको 'नागरी' से रोकता हो। तो निवेदन है कि देखो! प्यारे! बात भी ऐसी नहीं है। कहीं का कोई 'मिरजा' और 'सवाई' नागरी में अपना सिक्का चला रहा है और उसपर ढला रहा है "श्री खेंगारजी सवाइ बहादुर महाराजधिराज मिरजा-महाराउ"। कीजियेगा क्या! कच्छभुज के शासकों ने 'मिरजा' और 'सवाई' की आन को भी ले लिया और 'नागरी' का उपयोग कर प्रजा का मान भी रख लिया, पर आप तो बस 'पराये पानि पर' बाज ही बने रहे और अपने पक्ष का ही शिकार करते रहे।

हाँ, ग्वालियर के शासकों में भी अभिमान की मात्रा न्यून नहीं। कभी बूढ़े और अन्धे शाहआलम की ओर से उनको उपाधि मिल गयी थी 'आलीजाह बहादुर' की। इसमें सन्देह नहीं कि यही उस समय की सबसे बड़ी उपाधि थी और मिली भी थी बड़े उपकार के उपलक्ष्यमें ही। परन्तु जब दाता ही नहीं रहा तब इसका महत्त्व क्या? किन्तु तो भी इस उपाधि का अभिमानी शिन्दे वंश इसका स्वागत करता है। और इसको नागरी में ढाल कर मानो इसको भी नागरी बनाना चाहता है। देखिये, उसका ठप्पा है-'श्रीमाधवराव शिंदे आलीजा बहादुर। शासक कोई भी बने पर वह कभी शिंदे आलीजा बहादुर' को भूल नहीं सकता। मुगल प्रताप ही कुछ ऐसा था कि हिन्दू सिक्कों पर अपनी छाप छोड़ गया।

किन्तु कहीं आप यह न समझ लें कि देशके सभी रजवाड़े मुगलभक्त हो गये थे और मुगल उपाधि पर ही लट्टू थे। नहीं। सिक्के के अध्ययन से पता चलता है कि उनमें ईश भक्ति का अभाव नहीं। बूँदी के हाड़ावंश की वीरता किससे छिपी है जो उसके हाड़का बखान किया जाय। देखिये उसी की वीरव्रती छाप है 'रंगेशभक्त बुदीश राम सिंह'। १९२३ संवत् का यह 'रंगेशभक्त', अपने रंग का कैसा रहा, इसे इतिहास जाने, पर रंगेशभक्ति का इसे अभिमान रहा, इसे आप भी जान गये। और यदि भक्ति का रंग कुछ और भी देखना हो तो जयनगर (ग्वालियर) के महाराज जयसिंह का

सिक्का उठा लीजिये। उसपर आपको एक ओर तो दिखाई देगा—'श्री रावत परताप पवार पुत्र चल पाये के। तो दूसरी ओर इसी भाषा और इसी लिपि में—*'यह सिक पर छाप महाराज मघसिंह को'* का दर्शन होगा। भाषा में दोष देखने अथवा शुद्धाशुद्ध पर विचार करने का यह युग नहीं। भाषा और भेष जैसे तैसे बने रहे, यही बहुत है।

भक्ति का भाव उमड़ा तो जूनागढ़ के 'दीवान' को 'श्री हाटकेश्वराय नमः और श्री रघुनाथाय नमः" की सूझी परन्तु वहाँ के नवाब को यह न रुचा। *फलतः वहाँ के सिक्कों पर कुछ ऐसी छाप न लगी, पर इससे इतना* तो हुआ कि वहाँ के सिक्के पर नागरी में 'श्रीदीवान' आ गया और उधर दर्शन हो गया 'श्रीसोरठ सरकार' का। 'सोरठ' किस 'सौराष्ट्र' का ज्ञापक है, इसे भी न भूलें और देखें यह कि यहाँ का नवाबी देशी राज्य अपने अतीत का अभिमानी है या नहीं।

जूनागढ़ की भाँति ही 'जावरा' भी मुसलमानी राज्य है। किन्तु यहाँ भी हम देखते हैं कि नागरी का अभाव नहीं। यहाँ के पैसे पर आप को लिखा मिलेगा नागरी में "सरकार जावरा। इस प्रकार इतना तो स्पष्ट हो गया कि इसलाम का नागरी से कोई विरोध नहीं और मुगलों के अतिरिक्त कहीं उसका ऐसा बहिष्कार नहीं। हैदराबाद की मुगली नीति के जानकार उसकी *नागरी उपेक्षा को भलीभाँति समझ सकते हैं। यहाँ उसका कोई प्रश्न नहीं।* यह भी आखिर है तो तूरानी ही!

हाँ कुछ मनचले इन्दौर का भी पता हो जाना चाहिये। कारण यह कि यह सदा से कुछ निराला करतब दिखाता रहा है। सो यहाँ आप को देववाणीका साक्षात्कार होगा। देखिये न यहाँ के रुपये पर क्या छपा है। यही न—

'श्री इन्द्रप्रस्थस्थितो राजा चक्रवर्ती मडले
तत्प्रसादात्कृता मुद्रा लोकेस्मिन्वै विराजते।"

स्मरण रहे यह शाके संवत् १७२८ (ई० सन् १८०६) की बात है। यशवंत राव होल्कर अभी दिल्लीश्वर के प्रसाद से ही सिक्का ढाल रहे हैं और संस्कृतका उपयोग कर उसके प्रसाद को घटाना इष्ट नहीं समझते। उनको

दृष्टि में इससे उसका प्रसाद बढ़ेगा ही। कारण कि मुगल बादशाहों ने संस्कृत का सदा सत्कार किया है और कभी उसके विनाश का भाव नहीं दिखाया। अस्तु यह सिक्का इस दृष्टि से बड़े ही महत्त्व का है और आज से १४० वर्ष पहले की भावना को व्यक्त करता है।

और एकही बात और रह गई—बड़े महत्त्व की बात। रजवाड़ों में 'उदयपुर' की आन कुछ और ही रही है। उसके सिक्के में भी यही बात है। 'मुगल' से उसकी ठनी तो ठनी ही रही, पर अंगरेज से ऐसा कुछ मेल हुआ कि उसका हृदय पिघल गया और उसने अपनी मुद्रापर दोस्तिलधन का विधान किया। उसके रुपये पर एक ओर 'चित्रकूट' एवं 'उदयपुर के प्रति हृदय में, हमारे हृदय में जो भाव है वह कागद पर नहीं उतर सकता। 'रामराज्य', 'जौहर' और 'राजपूत' दर्प' की आज कितनी आवश्यकता है, कौन नहीं जानता? परन्तु आज की जो परिस्थिति है वह बहुत कुछ इस 'दोस्तिलंधन' में बसी है। बोलती नहीं पर बोलना चाहती है। अवश्य सुनिये। कहिये, क्या सुना? यही न कि इस स्वाधीनता के युग में भी 'लंदन' से मित्रता रखने की आवश्यकता है। हम कह नहीं सकते, पर कहना अवश्य चाहते हैं कि जैसे-तैसे गिरी से गिरी दशा में भी 'चित्रकूट' हमारे जीवन का सहारा और उदयपुर हमारे प्रताप का अड्डा रहा है। तो कोई कारण नहीं कि इस अवसर पर भी उससे जीवन और दर्प की कुछ प्रेरणा न मिले। जो हो अभी 'दोस्तिलधन' के साथ ही इस लेख को भी चलित रखते हैं। फिर कभी उचित अवसर हाथ लगने पर इसकी मीमांसा भी पूरी हो लेगी।

१८—जनपद की भाषा

किसी जनपद की भाषा उसके जीवन की जीभ होती है। जीभ के बिना प्राणी गूँगा है तो भाषा के बिना समाज। हम किसी व्यक्ति के संकेतों से उसकी भूख मिटा सकते हैं पर किसी समाज के जीवन को उसकी भाषा के बिना उगा नहीं सकते। पर सब कुछ होते हुए भी ध्यान देने की बात यह है कि किसी भी जनपद की वाणी केवल उसकी घरेलू बोली ही नहीं है अपितु वह भाषा भी है जिसमें वह अमृत रहने की लालसा से अपना हृदय खोलता और अपने अतीत को धरोहर के रूप में रख जाता है। तात्पर्य यह कि हमारी रोटी पानी की कामकाजी भाषा ही हमारी भाषा नहीं है अपितु वह शिष्ट भाषा भी हमारी ही भाषा है जो हमारे में बनी बढ़ी, पनपी और फली फूली तथा घर घर फैली है। हम अपनी बोली को बोलते और उसका उपयोग करते हैं अपनी क्षुधा बुझाने के लिए कुछ अपने जीवन का समुचित प्रफुल्ल करने के लिए नहीं। जीवन की सच्ची प्रफुल्लता अपनां में खिल जाने में है जो तभी सम्भव है जब उसकी परिधि उसकी क्षितिज को छूती और उसक अन्तरिक्ष को कभी भी सीमित न करती हो, प्रत्युत उसके प्राण को मुक्त आकाश में विचरण करने देती हो और दृष्टि की वृद्धि के साथ ही साथ स्वय भी बढती जाती हो और अपने क्षत्र के भीतर अपनी शक्ति का भरपूर प्रसार करती है। कहने का सारांश यह है कि जैसे व्यक्ति भाषा के द्वारा परिवार, परिवार कुटुम्ब, कुटुम्ब पड़ोस, पड़ोस ग्राम, ग्राम विषय और विषय जनपद का रूप धारण कर उत्तरोत्तर बढता जाता है और क्रमशः देश तथा राष्ट्र का रूप धारण कर लेता है और फिर उसके लाभ हानि, यश अपयश एव जीवन-मरण का अपना प्रश्न समझता है वैसे ही जन भाषा की भी स्थिति है। जनभाषा भी अपने जनपद के साथ लगी रहती है और उसकी उन्नति में साथ अपनी उन्नति चाहती है। परन्तु एक व्यक्ति दूसरे को जैसे अपना अगुआ बना लेता है और एक ग्राम जैसे अपने का दूसरे का पुरवा'

समझ लेना है और उसकी उन्नति में अपनी उन्नति का भी योग पाता है वैसे ही एक वाणी भी दूसरी वाणी को अपना मुख बना लेती है और उसकी उन्नति से अपनी उन्नति समझती है। निदान माना जाता है कि किसी भी जनपद की ठेठ भाषा वही भाषा नहीं है जो उसके घरों में रोटी पानी वा लेन-देन के लिए बोली जाती है, अपितु वह भी है जिसमें उसका अतीत सुरक्षित रहता और उसके सजातीय समय-समय पर अपनी व्यवस्था देते तथा पंच में अपना हृदय खोलते हैं। सारांश यह है कि उसकी ठेठ घरेलू भाषा भी उसी की भाषा है और उसकी साधु संस्कृति-भाषा भी उसी की भाषा है। निदान दोनों के परस्पर व्यवहार और आव भगत, लेन-देन, आदि में ही किसी लोक वा राष्ट्र का कल्याण चलता है, कुछ छीन झपट वा लाग-डाँट में नहीं। संघर्ष विनाश और सम्पर्क विलास का द्योतक है।

प्राय देखने में आता है कि आज जनपदों को लेकर मनमानी दौड़ लगायी जा रही है और सभी अपने आप को कुछ न कुछ कर दिखाना चाहते हैं। भाव अच्छा पर लक्ष्य स्पष्ट है। सच पूछिये तो हमारा सच्चा विकास तभी हो सकता है जब वह पूरे पुज के साथ हो और पुज का भी वास्तविक उत्कर्ष तभी सम्भव है जब वह प्रत्येक अग के साथ हो। ऐसी स्थिति में प्रत्येक जन तथा जनपद को यह स्मरण रखना होगा कि उसकी निज वाणी का विकास उसके निज रूप में ही होगा, आगे बढ़ने पर तो उसे दूसरे जनपद की वाणी का सामना करना होगा जिसे अपनी निज वाणी का कुछ कम आग्रह न होगा। फिर पूरे समाज अथवा समूची जाति का व्यापार कैसे होगा और कैसे होगा उस जाति का उद्धार जो छोटी छोटी बोलियों में बँटी और मनमाना व्यापार करती है? फलतः विवश हो सबको उस वाणी को अपनाना ही होगा जो पहले से उसकी बनी आ रही है और सदा से इस अवसर पर अपना धर्म निबाहती रही है।

भाषा के क्षेत्र में एक बड़ी भूल यह की जाती रही कि लोग या तो राष्ट्र-भाषा को ही महत्त्व दे रहे हैं या मातृ भाषा का ही। परन्तु सच पूछिए तो किसी भी राष्ट्र का अभ्युदय और मंगल उसी भाषा के द्वारा होगा जिसमें उसके प्राण खिले हों और उसकी आत्मा बसी हो और जिसमें उसके सभी

अंगों का योग क्षेम भरा हो। ऐसा कहने का कारण यह है कि उसके द्वारा एक ओर जहाँ जन वाणी राष्ट्र-वाणी को अपना आदर्श बनाती है वहाँ राष्ट्रवाणी भी उसका सत्कार करती और उसको अपने योग से सम्पन्न बनाती है। वस्तुतः जन भाषा और शिष्ट भाषा का आदान-प्रदान ही राष्ट्र का मगल सोपान है जिसके द्वारा श्रेय की पराकाष्ठा प्राप्त होती है और जहाँ से जन जन को अटूट जीवन प्राप्त होता है। आशय संक्षेपमें यही है कि सब जन को अपनी शक्ति, पहुँच और प्रतिष्ठा तथा पद के अनुकूल अपने अपने धर्म का पालन कर अपनी 'भाषा' को पुष्ट करना चाहिए और किसी भाषा का विकास ऐसा न होना चाहिए कि उसके प्रचंड प्रकाश के सामने सबका अन्त हो जाय। नहीं, किसी भी भाषा को मार्तंड न बनाकर सुधाकर-बनाना चाहिए जो अपने प्रकाश के साथ ही साथ अन्य नक्षत्रों के प्रकाश को भी बना रहने दे, कुछ सबका लोप कर अपने आप को न चमकाए। संक्षेप में यही हमारा मत है जन वाणी और जन भाषा के विषय में, हम दोनों को एक दूसरे का पूरक समझते हैं दूषक कदापि नहीं।